सौन्दर्य शास्त्र

शोध पत्रिका

(सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक)

सम्पादक :

सुरेशचन्द्र त्यागी
एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महाराजसिंह कालेज
सहारनपुर (उ० प्र०)

1979

मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्

प्रकाशक :
मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद्

यह विशेषांक :
दस रुपये केवल

मुद्रक :
नवयुगान्तर प्रेस
दिल्ली चुंगी, मेरठ

आवरण मुद्रक
वी० के० प्रिंटिंग एजेन्सी
दिल्ली चुंगी-मेरठ–२

अनुक्रम

यह विशेषांक

1714 में उत्पन्न बर्लिन (जर्मनी) निवासी बाउमगार्टन (Alexander Gottlieb Baumgarten) वुल्फ़ (Wolff) की विचारधारा का अनुयायी था। उसने लेटिन अलंकारशास्त्र और काव्य का अध्ययन-अध्यापन किया था। सितम्बर 1735 में, जबकि उसकी आयु केवल इक्कीस वर्ष थी, डाक्टर की उपाधि प्राप्त करने पर उसने एक थीसिस (Meditationes Philosophicae de nonnullis ad poema pertinentibus) प्रकाशित कराया जिसमें एस्थेटिक (Aesthetic) शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग एक विशेष विज्ञान के अर्थ में किया गया था। 1749 में उसने 'एस्थेटिक' विषय पर अनेक व्याख्यान दिये और 1750 में 'एस्थेटिका' (Aesthetica) शीर्षक से एक ग्रन्थ प्रकाशित कराया। 1758 में इसका दूसरा भाग भी छपा लेकिन अस्वस्थ होने के कारण और 1762 में देहान्त होने के कारण बाउमगार्टन अपने कार्य को पूरा नहीं कर सका। 'एस्थेटिक्स' के इतिहास में बाउमगार्टन के चिन्तन का महत्त्व विवादास्पद हो सकता है लेकिन नामकरण का श्रेय उसे ही है।[1]

'एस्थेटिक्स' के कई हिन्दी रूपान्तर सामने आये हैं—सौन्दर्यशास्त्र, सौन्दर्य-दर्शन, सौन्दर्य-विज्ञान, कला-शास्त्र, कला-दर्शन, सौन्दर्यबोध शास्त्र, स्वतंत्रकला-शास्त्र, रस-शास्त्र आदि। अतः हिन्दी में सर्वप्रथम समस्या संज्ञा को लेकर ही है। स्थिति कितनी भ्रामक है, यह एक ही लेखक के निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाना चाहिए—

(अ) " 'एस्थेटिक्स' शब्द का मूल अर्थ यद्यपि भिन्न है किन्तु प्रचलित अर्थ में उसे 'सौन्दर्यशास्त्र' का ही पर्यायवाची मानना उचित है।"[2]

(आ) "अस्तु, सही अर्थ में सौन्दर्यशास्त्र को, 'सौन्दर्यशास्त्र' भी नहीं, 'कला-शास्त्र' भी नहीं अपितु 'कला दर्शन' कहना चाहिए।"[3]

---

1. "Baumgarten's works are but another presentation of the problem of Aesthetic still clamouring for solution in a voice so much the stronger as it uttered a commonplace : he proclaims a new science and presents it in conventional scholastic form ; the babe about to be born receives the name of Aesthetic by premature baptism at his hands : and the name remains." – Croce, Aesthetic, Page 218.
2. गणपतिचन्द्र गुप्त : रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृष्ठ 122
3. गणपतिचन्द्र गुप्त : रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृष्ठ 123

(इ) "अस्तु, अब तक की प्रगति के आधार पर उसे 'सौन्दर्य-दर्शन', 'सौन्दर्य-शास्त्र' एवं 'सौन्दर्य-विज्ञान' तीनों की संज्ञा दी जा सकती है।"[4]

(ई) "अस्तु, व्यवहार में हम भले ही 'एस्थेटिक्स' के लिए 'सौन्दर्यशास्त्र' या 'कला-मीमांसा' जैसे शब्दों का प्रयोग करें किन्तु सिद्धान्ततः इसका निकटतम पर्याय 'रसशास्त्र' ही है—ऐसा हम निस्संकोच कह सकते हैं।"[5]

इन उद्धरणों पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। खेद यह है कि दूसरी भाषाओं में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन जब विविध आयामों को स्पर्श करते हुए निरन्तर विकसित हो रहा है, तब हम हिन्दी वाले संज्ञा की समस्या से ही जूझ रहे हैं। 'एस्थेटिक्स' के लिए 'सौन्दर्यशास्त्र' शब्द इतना प्रचलित हो गया है कि नये-नये चौंकाने वाले नाम उसे अपदस्थ नहीं कर सकते और अपदस्थ करने की आवश्यकता भी नहीं है। हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के आरम्भ से ही यह 'एस्थेटिक्स' के अर्थ को वहन करता रहा है अतः इसे स्वीकार कर लेना चाहिए। हमें चाहिए कि इसे आगे विवाद का विषय न बनायें और इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करें।

वे महत्त्वपूर्ण प्रश्न कौन-से हैं? सबसे पहला प्रश्न सौन्दर्यशास्त्र के क्षेत्र-निर्धारण का है। सौन्दर्यशास्त्र की विवेचना का विषय प्रकृति, मानव और कलागत—चतुर्दिक् व्याप्त सभी प्रकार का सौन्दर्य है या केवल ललित कलाओं का सौन्दर्य?

दूसरा प्रश्न सौन्दर्य की सत्ता का है कि सौन्दर्य वस्तुनिष्ठ है या व्यक्तिनिष्ठ या दोनों? इस विषय में जो भ्रम फैला हुआ है, वह समाप्त होना चाहिए।

तीसरा प्रश्न काव्यशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध का है। यहां यह सोचना होगा कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यालोचन का मूल्य हो सकता है या नहीं और सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्य कौन से हैं जिनके निकष पर काव्य की समीक्षा संभव है?

चौथा प्रश्न यह है कि सब ललित कलाओं के मूल्यांकन की एक कसौटी संभव है या नहीं? क्या एक ही धरातल पर वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और कविता की पहचान हो सकती है?

पांचवां प्रश्न सबसे बड़ा है और वह यह कि सौन्दर्यशास्त्र को दार्शनिक सिद्धान्तों के जाल से निकालकर व्यावहारिक रूप कैसे प्रदान किया जाये?

इनके अतिरिक्त अनेक छोटे-बड़े प्रश्न हो सकते हैं जिन पर हिन्दी-समीक्षकों

4. गणपतिचन्द्र गुप्त : रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृष्ठ 123
5. गणपतिचन्द्र गुप्त : रस-सिद्धान्त का पुनर्विवेचन, पृष्ठ 134

को विचार करना चाहिए। एक अहिन्दीभाषी विद्वान् ने मुझे लिखा था, "हिन्दी के आलोचक और प्राध्यापकों का तो सौन्दर्यबोध उनके कार्य-कक्ष और ड्राइंगरूमों में लगे सस्ते कैलेंडरों से ही व्यक्त हो जाता है। वे केवल शब्दों के व्यापारी हैं, उनका सौन्दर्य-शास्त्र विषयक चिन्तन बहुत ही बचकाना है।" मुझे आशा है कि हिन्दी-समीक्षकों में इस आरोप को झूठा सिद्ध करने की प्रेरणा जागेगी।

मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् के साहिबाबाद अधिवेशन में यह निर्णय हुआ था कि शोध-पत्रिका का अगला अंक 'सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक' के रूप में प्रकाशित होगा। उसके बाद मुज़फ्फरनगर अधिवेशन में सौन्दर्यशास्त्र पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की गई थी। मैंने सोचा था कि विशेषांक निकालने का कार्य कठिन नहीं होगा लेकिन इस बीच हुए अनुभवों ने कई भ्रम तोड़ दिये। मुझे आशा थी कि हिन्दी के विद्वान् इस विशेषांक के लिए लेखकीय सहयोग अवश्य प्रदान करेंगे लेकिन निराशा ही हाथ लगी। इसका कारण शायद यह हो कि हिन्दी परिषद् शिक्षकों की संस्था है, व्यावसायिक संस्था नहीं। व्यावसायिक कार्य होता तो कदाचित् कोई कठिनाई न होती। अनेक महानुभावों ने जवाबी चिट्ठी भेजने पर भी कोई उत्तर नहीं दिया। एक विद्वान् ने मुझ पर नाराज़गी व्यक्त की कि पन्द्रह पैसे का भी विश्वास न करके मैंने जवाबी पत्र क्यों लिखा? मैं उनकी इस नाराज़गी पर गद्गद् हो उठा। उसके बाद मैंने कई पत्र लिखे परन्तु उत्तर नहीं मिल सका। एक हिन्दी विद्वान् ने पूछा कि पारिश्रमिक कितना मिलेगा? मैंने उत्तर दिया कि यह हिन्दी शिक्षकों की संस्था की पत्रिका है, इस पर तो रहम कीजिये। उन्होंने रहम किया और लेख नहीं भेजा। उन विद्वानों का अलग वर्ग है जिन्होंने लेख भेजने का पक्का वायदा किया और बराबर लिखते रहे कि शीघ्र भेज देंगे लेकिन लेख भेजा नहीं।

डा० कुमार विमल ने मुझे लिखा था, "मैं चाहूँगा कि इस विशेषांक के द्वारा आप सौन्दर्यशास्त्र पर काम करने वाले भारतीय विद्वानों को एक मंच पर लायें। हिन्दी के अलावा भारत की अन्य भाषाओं में भी इन दिनों सौन्दर्यशास्त्र पर बढ़िया काम हो रहा है।" मुझे खेद है कि इस विशेषांक के द्वारा यह कार्य नहीं हो सका है। कारणों की व्याख्या आवश्यक नहीं समझता। कुछ संकेत ऊपर कर दिया है।

जिन विद्वानों ने अपने निबन्ध भेजकर इस विशेषांक के सम्पादन में सहयोग दिया है, उनके प्रति आभार व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं। सच तो यह है कि उनकी कृपा न होती तो विशेषांक न निकलता।

मैं उन विज्ञापनदाताओं के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने आर्थिक सहयोग देकर परिषद् को उपकृत किया है।

विशेषांक के मुखपृष्ठ के चित्रकार प्रो० शुकदेव श्रोत्रिय (एस० डी० कालेज, मुज़फ्फरनगर) हैं। उन्होंने चित्र के विषय में टिप्पणी भेजी है—"प्रकाश सबसे बड़ा सत्य है, मातृत्व सबसे अधिक कल्याणकारी है और भंगिमा में सबसे अधिक सौन्दर्य

है। चित्र में इन्हीं तीन प्रेरणा-स्रोतों को मैंने रूपायित करने का प्रयास किया है।" परिषद् चित्रकार के प्रति आभार व्यक्त करती है।

परिषद् के महामंत्री डा० रामकृष्ण कौशिक सोफ़िया विश्वविद्यालय (बलगारिया) में हिन्दी भाषा और साहित्य के आचार्य होकर गये हैं। आशा है कि प्रवास की अवधि में वे वहां हिन्दी की सेवा करके देश का मान बढ़ायेंगे। परिषद् की ओर से हार्दिक बधाई और शुभकामनाएं!

—सुरेशचन्द्र त्यागी

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

विशेषांक छपते-छपते यह हृदय-विदारक समाचार मिला कि हिन्दी के शीर्षस्थ गद्य-शिल्पी और गंभीर विद्वान् आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का 19 मई 1979 को सायं 5·50 बजे अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नई दिल्ली में निधन हो गया। आचार्य द्विवेदी के मस्तिष्क में रसौली थी और उन्हें 11 मई 1979 को वाराणसी से दिल्ली लाकर आयुर्विज्ञान संस्थान में भरती कराया गया था। 19 अगस्त 1907 को दुबे का गांव (जिला बलिया, उत्तर प्रदेश) में जन्मे आचार्य द्विवेदी के हिन्दी को समर्पित जीवन का अंत हिन्दी ही नहीं, समस्त भारतीय साहित्य की क्षति है। उन्होंने अपने साहित्य द्वारा जिन मानवतावादी मूल्यों के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति की थी, वह सभी के लिए प्रेरणादायी है और रहेगी। मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद् की ओर से सादर श्रद्धांजलि !

आचार्य द्विवेदी की रचनाएं—

उपन्यास : वाणभट्ट की आत्मकथा, चारु चन्द्रलेख, पुनर्नवा, अनामदास का पोथा अथ रैक्व आख्यान।

आलोचना : सूर-साहित्य, कबीर, कालिदास की लालित्य-योजना, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, साहित्य का मर्म, मृत्युंजय रवीन्द्र, आधुनिक साहित्य बोध।

साहित्य का इतिहास : हिन्दी साहित्य की भूमिका, हिन्दी साहित्य, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, नाथ सम्प्रदाय।

धर्म–कला–संस्कृति : मध्यकालीन धर्म-साधना, सहज साधना, प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद।

निबन्ध : साहित्य सहचर, कुटज, कल्पलता, विचार और वितर्क, आलोक पर्व, अशोक के फूल, विचार प्रवाह।

सम्पादन : संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पंडित जगन्नाथ तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ, सन्देश रासक, रामानन्द की हिन्दी रचनाएं।

अनुवाद : नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, लाल कनेर इत्यादि।

कार्य-क्रम : विश्वभारती के हिन्दी भवन के निदेशक (1930-35), बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष (1950–60), पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष (1960–67), टैगोर

प्रोफेसर (1967), बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रैक्टर (1968–70), हिन्दी भाषा के ऐतिहासिक व्याकरण के निदेशक (1970–72), उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के संचालक मंडल के अध्यक्ष (1972 से), राजभाषा-आयोग के सदस्य, (1955–56), राष्ट्रीय प्रसारण समिति के सदस्य, (1967), राष्ट्रीय शिक्षा परिषद्, साहित्य अकादमी की महासभा और कार्यकारिणी के सदस्य।

पुरस्कार : मंगलाप्रसाद पुरस्कार (1947), हिन्दी साहित्य सम्मेलन की ओर से साहित्य-वाचस्पति उपाधि (1967), डी० लिट० की मानद उपाधि लखनऊ विश्व० की ओर से, साहित्य अकादमी का टैगोर पुरस्कार (1962), रवीन्द्र भारती का टैगोर पुरस्कार (1973), साहित्य अकादमी पुरस्कार (1973), भारत सरकार की 'पद्मभूषण' उपाधि से विभूषित।

"जनशक्ति जाग्रत होगी नहीं, हो चुकी है। उसे सही दिशा की, सही भाषा की तलाश है। यह दिशा और यह भाषा मिलने पर वह इस देश का कायाकल्प कर देगी। उसके विद्रोह के सामने हमारी वकालत धरी रह जायेगी। राजनीति को सही दिशा की और साहित्य को सही भाषा की इस खोज में योगदान करना चाहिए। कुछ समझदार राज-नीतिज्ञ इस खोज में प्रवृत्त हो भी रहे हैं। लेकिन साहित्यकार तो, क्या कहें, रचना-प्रक्रिया की डाक्टरेट से फुर्सत नहीं पा रहा है। उस पर तो चार पंक्ति की कविता के विषय में चार पृष्ठ का वक्तव्य देने की धुन सवार है। चार ठो कहानियां लिखकर ऐसा शास्त्रार्थ मचाये हुए हैं मानों चार वेद ही तो लिख डाले हैं।"

— आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

सौन्दर्य का मूल अर्थ

डा० कृष्णचन्द्र गुप्त

'सुन्दर' और उसके गुण सौन्दर्य की चर्चा कई दृष्टिकोणों से कई प्रसंगों में हुई है। परस्पर विरोधी विचार तक मिलते हैं। व्यक्तिनिष्ठ-वस्तुनिष्ठ, प्राकृतिक-मानवीय, भौतिक-आध्यात्मिक, विषयगत या अभिव्यक्तिगत, नीतिसापेक्ष-नीतिनिरपेक्ष, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन या प्रयोजनातीत, वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में देशकाल सापेक्ष-निरपेक्ष आदि तथा और भी कितनी सी अल्पज्ञात-अज्ञात दृष्टियों से इस पर विचार हुआ है। लेकिन एक बात जो इन सब विचार प्रवाहों से गुजरने पर सही लगती है, वह यह है कि नेत्रसुख या नेत्रों के माध्यम से सुख देने वाले पदार्थ ही मूलतः 'सुन्दर' कहलाते हैं अतः इन पदार्थों का गुण या वैशिष्ट्य ही मूलतः सौन्दर्य मानना चाहिए फिर चाहे ये पदार्थ ईश्वर या प्रकृतिकृत हों या मानवकृत। मोटे रूप से ये ही इनके दो वर्ग माने जा सकते हैं: ईश्वरीय या प्राकृतिक सृष्टि और मानवीय सृष्टि।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने क्रमशः ईश्वरीय या प्राकृतिक पदार्थों— प्राणियों के नेत्रसुख या नेत्रों के माध्यम से सुख प्रदान करने वाले गुण, धर्म या स्वभाव को सौन्दर्य और मानवीय कृतियों के उक्त गुण, धर्म या स्वभाव को लालित्य की संज्ञा दी है। (द्रष्टव्य 'कालिदास की लालित्य योजना') यह धारणा विचारणीय है। वैसे इन्हें ईश्वरकृत या प्रकृतिकृत सौन्दर्य और मानवकृत सौन्दर्य कहना अधिक सही होगा, क्योंकि 'सौन्दर्य' और 'लालित्य' का यह प्रयोग—शाब्दिक अर्थ की यह धारणा और अन्तर—कोई बहुत स्पष्ट और दृढ़ आधार पर स्थित नहीं लगता। केवल प्रकृतिकृत सौन्दर्य को मानवकृत या मानव द्वारा रचित कृतियों के सौन्दर्य से अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'लालित्य' शब्द की खोज और इस अर्थ में उसका प्रयोग किया हुआ लगता है।

तो 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग मूलतः नेत्र-सुख प्रदान करने वाले या नेत्र के माध्यम से हृदय को सुख प्रदान करने वाले प्राणी या पदार्थ के लिए है, जिन्हें 'सचेतन' और 'अचेतन' के द्वारा भी अभिहित किया जा सकता है। इन सुन्दर पदार्थों या प्राणियों का नेत्र-सुख प्रदान करने वाला भाव, स्वभाव, तत्त्व, गुण, धर्म ही मूलतः सौन्दर्य है। अन्य इन्द्रिय सुख प्रदान करने वाले या अन्य इन्द्रियों के माध्यम से मन को

सुख प्रदान करने वाले गुणों के अर्थ में इस शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ है—जैसे कर्ण सुख के लिए मधुर ध्वनि या सुन्दर ध्वनि, जिह्वा सुख के लिए सुन्दर या अच्छा स्वाद या रसपूर्ण स्वाद, त्वचा या स्पर्शसुख के लिए कोमलता, घ्राण सुख के लिए सुन्दर, भीनी या मधुर या मनभावन गंध।

नेत्रसुख का ही विशेषण पूर्णत: 'सुन्दर' कहा जा सकता है। श्रवणसुख को उससे कम, क्योंकि इसके लिए सुन्दर ध्वनि की अपेक्षा मधुर ध्वनि अधिक प्रचलित है। जिह्वासुख को इससे भी कम क्योंकि इसे 'स्वादिष्ट' अर्थात् अच्छे मधुर आदि स्वाद से युक्त अर्थ में प्रयोग किया जाता है, मात्र 'स्वाद' चाहे वह कैसा भी हो इस अर्थ में नहीं। और इसी क्रम में सबसे कम घ्राणसुख के लिए 'सुन्दर' का प्रचलन है। और त्वचा स्पर्शसुख के लिए तो 'नहीं' के बराबर।

नेत्रसुख के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियजन्य सुख के लिए 'सुन्दर' शब्द का क्रमश: अल्पात्यल्प प्रयोग भी एक प्रमाण है इस तथ्य का कि 'सुन्दर' मूलत: नेत्रसुख या नेत्रसाध्य सुख के लिए ही प्रयुक्त विशेषण है जो कालान्तर में अन्य इन्द्रिय सुख के लिए प्रयोग होने लगा और आज भी सबसे अधिक इस शब्द का प्रयोग नेत्रसुख या नेत्र-साध्य सुख के लिए ही होता है। वैसे सुख की अनुभूति ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से मन को होती है और नेत्र, कान, नासिका, जिह्वा और त्वचा के माध्यम से मन को प्रिय एवं अनुकूल अनुभूति कराने वाले तत्त्व को 'सुन्दर' प्राय: मान लिया जाता है, तो भी इनमें सबसे अधिक नेत्रों के माध्यम से प्राप्त अनुभूति कराने वाले तत्त्व के लिए 'सुन्दर' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। अत: नेत्रसुख देने वाले प्राणी या पदार्थों को मूलत: सुन्दर मानना समीचीन है। अन्य इन्द्रिय सुख देने वाले पदार्थों का विशेषण क्रमश: मधुर-कर्णेन्द्रिय सुख के लिए, सरस या स्वादिष्ट–जिह्वेन्द्रिय द्वारा उपलब्ध सुख के लिए, कोमल–स्पर्श द्वारा उपलब्ध सुख के लिए, मधुर या प्रिय–नासिका द्वारा उपलब्ध सुख के लिए प्राय: प्रयुक्त होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का प्रस्तुत उद्धरण भी इसी तथ्य को रेखांकित करता है कि नेत्रों द्वारा ग्राह्य रंगरूप सौन्दर्य है :—

"कुछ रंगरूप की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अंत: सत्ता की वह तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है।"[1]

रंगरूप नेत्रों द्वारा ही तो ग्राह्य है। मन का रंगरूप वाली वस्तुओं में लीन हो जाना, तल्लीन हो जाना, उन्हीं के आकार में परिणत होना, तदाकार हो जाना, सौन्दर्य की अनुभूति के रूप में स्वीकार किया गया है अत: सौन्दर्य मूलत: नेत्रों का

1. (चिन्तामणि, भाग 1, पृष्ठ 242)

विषय है, नेत्रों के माध्यम से ही सुन्दर पदार्थ या प्राणी के गुण, स्वभाव या धर्म को ग्रहण करते हैं जिसे सौदर्न्य कहा जाता है। जैसे कि रस मूलतः जिह्वेन्द्रिय का विषय है, कर्णेन्द्रिय या अन्य इन्द्रियों के विषय के रूप में इसका सादृश्य के आधार पर अर्थ विस्तार हुआ, मन के भावन व्यापार के अर्थ में भी इसका विस्तार इसी बिन्दु से हुआ है, वैसे ही सौन्दर्य मूलतः नेत्रसुख ही है अन्य इन्द्रिय सुखों तथा मन की तल्लीनता या तादात्म्य या तदाकार के अर्थ में इसका विस्तार इसी बिन्दु से हुआ लगता है।

— हिन्दी विभाग
सनातन धर्म कालेज,
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

सौन्दर्य और विरूपता

"सौन्दर्य अपने समर्थन के लिए जिस सामंजस्य की ओर इंगित करता है, विरूपता भी अपने विरोध के लिए उसी की ओर संकेत करती है पर दोनों के सकेत में अन्तर है। प्रत्येक सौन्दर्य-खड अखंड सौन्दर्य से जुड़ा है और इस तरह हमारे हृदयगत सौन्दय-बोध से भी जुड़ा है, पर विरूप, व्यापक सामंजस्य का विरोधी होने के कारण हमारे भीतर कोई स्वभावगत स्थिति नहीं रखता। सौन्दर्य से हमारा वह परिचय है जो अनन्त जलराशि में एक लहर का दूसरी लहर से होता है, पर विरूपता से हमारा वैसा ही मिलन है जैसा पानी में फेंके हुए पत्थर और उससे उठी लहर में सहज है। सौन्दर्य चिर परिचय में भी नवीन है पर विरूपता अति परिचय में नितांत साधारण बन जाती है, इसी से सौन्दर्य की रहस्यानुभूति हीं, अन्तहीन काव्यकथा में नये परिच्छेद जोड़ती रही है।"

—महादेवी वर्मा

('दीपशिखा' की भूमिका से)

"एक हिन्दी-भाषी की हैसियत से मैं कई बार अहिन्दी भाषा-भाषियों से अनुरोध कर चुका हूँ कि वे सब मिलकर हिन्दी को तराशकर इस योग्य बना दें कि वह आधुनिक विचारधारा को पूरी तरह व्यक्त कर सके और जब यह राष्ट्रभाषा बनकर सारे देश के लोगों की भाषा बन जायेगी तब यह सभी अहिन्दी भाषा-भाषियों का अधिकार ही नहीं बल्कि कर्त्तव्य होगा कि इसकी समृद्धि में उन सबका सहयोग हो।"

—राजेन्द्र प्रसाद

राजहंस प्रकाशन
मेरठ (उ० प्र०)

लावण्य और माधुर्य

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

आचार्य द्विवेदी को डा० कृष्ण चन्द्र गुप्त ने लावण्य और माधुर्य के अर्थभेद के विषय में विचार भेजने के लिए एक पत्र लिखा था जिसमें उन्होंने अपनी यह धारणा व्यक्त की थी कि लवण से 'लावण्य' और मधुर से 'माधुर्य' शब्द बनने के कारण ये मूलत: रसना के विषय हैं। सौन्दर्य के समानार्थी के रूप में प्रयुक्त होने वाले इन शब्दों का रसनेन्द्रिय विषय से अर्थ विस्तार हुआ लगता है अर्थात् पहले ये रसना के विषय थे, बाद में नेत्रों के या नेत्रों के माध्यम से मन के विषय बने हैं।

आचार्य द्विवेदी ने अपने उत्तर में जो लिखा, उसका उद्धरण यहाँ प्रस्तुत है—

"लावण्य और माधुर्य के बारे में मैंने कहीं अपना विचार लिखा तो अवश्य है, लेकिन स्मरण नहीं आ रहा है कि कहाँ लिखा है। आपने ठीक ही लिखा है कि ये दोनों शब्द क्रमश: 'लवण' और 'मधुर' से बने हैं और बाह्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत शब्द को मानसिक आनन्द के लिए व्यवहार किया जाने लगा है। लेकिन मैंने स्वयं जो सोचा है, उसे निवेदन कर देना चाहता हूँ।

'लावण्य' उस सौन्दर्य को कहते हैं कि जो निश्चित मात्रा में रहने पर ही सुखद होता है। जिस प्रकार भोजन में लवण एक निश्चित मात्रा में ही प्रीतिकर होता है, अधिक या कम हो जाने पर उतना प्रीतिकर नहीं होता और अधिक हो जाय तो भोजन के आनन्द में बाधा भी उत्पन्न करता है। किसी व्यक्ति या वस्तु का सौन्दर्य निश्चित मात्रा में ही सुखकर होने पर उस व्यक्ति या वस्तु के सौन्दर्य को 'लावण्य' कहा जा सकता है।

'माधुर्य' के साथ यह बात नहीं। वह कुछ ज्यादा-कम होने पर भी अप्रीतिकर नहीं होता। इसके अतिरिक्त 'माधुर्य' अधिक शामक होता है। मन पर उसका प्रभाव भी शामक होता है। किन्तु 'लावण्य' उत्तेजक होता है। मेरी समझ में इन दोनों में यही अन्तर है। केवल सहृदय ही इन दोनों में फर्क का अनुभव कर सकते हैं। 'माधुर्य' में 'सुषमा' बनी रहती है। 'लावण्य' में उसके विचलित होने की भी आशंका बनी रहती है। 'सुषमा' सु + समा है। अर्थ है 'वैल-बैलेंस्ड' अर्थात् सब ओर से साम्य की रक्षा करने वाला।

आज इतना ही। संस्कृत ग्रन्थों में इन दोनों शब्दों की जो परिभाषा लिखी हुई है, उसे खोजकर बाद में लिखूँगा।"

"हिन्दी सीखने का कार्य ऐसा त्याग है जिसे दक्षिण भारत के लोगों को राष्ट्र की एकता के हित में करना चाहिए।"

—एनी बेसेन्ट

सौन्दर्य-बोध, रस-बोध और मूल्य-बोध

डा० प्रेमस्वरूप गुप्त

प्रिय सुरेश जी,

आपके पत्र बराबर मिलते रहे हैं, आग्रह-अनुरोध से भरे कि मैं आपके अक के लिए अवश्य कुछ लिखूँ। भाई, कुछ स्वास्थ्य की सीमाएं और कुछ परिस्थितियां जिनमें कि अध्यापक और विद्यार्थी— दोनों ही भटकाव में हैं, कुछ ढंग से सोचने-लिखने का अवसर ही नहीं मिल पा रहा।

सोचता हूं, इस पत्र के माध्यम से ही अपनी बात कह दूं। लेख लिखने में विषय को मंडान देना पड़ेगा, 'वाग्देवतावतार' बनने का नाटक खेलना पड़ेगा। आपको सीधे-सीधे लिखने में संक्षेप भी रहेगा, अकृत्रिमता भी। यों सैद्धान्तिक समीक्षा के लिए अपने यहाँ पत्र-शैली अभी प्रचलित नहीं है। पर रुच जाए तो काम में ले लेना अंक के लिए, अन्यथा बात मेरे-आपके बीच।

सौन्दर्य-बोध, रस-बोध और मूल्य-बोध को लेकर कुछ कहना चाहता था। आपने तो सौन्दर्य-शास्त्र को लेकर बहुत अच्छा चिन्तन-अध्ययन किया है। मैं इन पहलुओं पर शास्त्रीय गुरु-गम्भीरता नहीं चढ़ाना चाहता। पर मुझे लगता है कि तीनों की अर्थवत्ता कहीं न कहीं परस्पर जुड़ती है, एक भी बनती है। शायद, एक है ही।

मैंने सौन्दर्य, रस और मूल्य—तीनों के साथ 'बोध' शब्द जोड़ा है। सौन्दर्य-शास्त्रियों का एक वर्ग और रस-शास्त्रियों का उससे काफी बड़ा समुदाय सौन्दर्य और रस के अनुभूति-पक्ष में 'बोध' शब्द के प्रयोग पर आनाकानी अवश्य करेगा। मूल्य के विवेचकों को खैर कोई आपत्ति न होगी। पर मैं ऐसा मानता हूं कि इन तीनों की ही सत्ता में से बोध पक्ष को निकाला नहीं जा सकता।

सौन्दर्य आत्मवादियों के लिए अनुभूति के सूक्ष्म स्तरों में एक 'कांशसनेस' या एक 'चेतना' हो सकता है, पर उसका संवेदन-पक्ष बोधमय है, एक वस्तु-पक्ष से ही उसका मार्ग प्रशस्त होता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

'रस' आत्मानन्द है, आस्वाद-मात्र है, अनिर्वच अनुभूति-मात्र है, स्वसंवेद्य है, अखंड और ब्रह्मानन्दसहोदर है—यह सब शास्त्रीय वागाडंबर है, इसे 'वाचालंकार' कह लो चाहो तो। रस-निष्पत्ति में विभाव-पक्ष का योगदान नगण्य नहीं होता। अभिनव-

गुप्त तो यह भी कहता है कि विभाव-पक्ष ही गलकर 'भाव' बन जाता है, और वही 'भाव' प्रकाशित होता हुआ 'रस'। सो भाई, 'पाणी ही तें हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ'। और, यह विभाव-पक्ष 'बोध' की सीमाओं से अलग कैसे किया जा सकता है ?

अभिनवगुप्त का मैंने नाम लिया तो शायद तुम अभिनव की ही मुझे यह बात याद दिला दो कि वह विभाव-पक्ष में जो सौन्दर्य स्वीकार करता है वह 'हृदय संवाद' के ही कारण, अन्यथा हर विभाव हर-एक के लिए सुन्दर क्यों न बन जाए ? उसकी उक्ति यह है भी :—

'शब्दसमर्प्यमाणहृदयसंवादसुन्दरविभावानुभावसमुचितप्राग्विनिविष्टरत्यादिवासनानुरागसुकुमारस्वसंविदानन्दचर्वणारूपो हि रसः।'

सचमुच अभिनव के द्वारा की गई यह रस की मार्मिक व्याख्या है । और मैं आपाततः तुम्हारी उपर्युक्त शंका को स्वीकार भी कर लूंगा ।

एक बात, बीच में। मैं तुम्हें 'आप' के बजाय, 'तुम' कहकर बात कर रहा हूं। अखरता तो नहीं ? मुझे इस पत्र में 'आप' कहकर चलने में दूरी का बोध हो रहा है । उस दूरी के साथ लिखता तो पत्र ही क्यों लिखता, 'लेख' ही लिखता ।

पर मेरी बात अपनी जगह मुझे अब भी ठीक लगती है । रस का विभाव-पक्ष ही बढ़–घुलकर 'रस' बन जाता है । शायद इसीलिए आचार्यों के एक वर्ग ने यहां तक कह डाला है कि विभाव ही रस है । बात देखने-सुनने में सारी भरत-परम्परा से उलटी लगती है। पर उलटी बात कहने वालों का भी कुछ आधार हुआ करता है । अभिनव के अनुसार विभाव-पक्ष 'हृदय-संवाद' से ही 'सुन्दर' बनता है, पर 'सुन्दर' होकर वह रस का बोध-पक्ष नहीं रहता, यह मानना कहां का न्याय होगा ?

अच्छा, सौन्दर्यानुभूति और रसानुभूति को थोड़ी देर के लिए, बिना विवाद उठाये, पर्याय मान लें । कोई हरज न होगा ।

तो बात यह बनी कि रसानुभूति या सौन्दर्यानुभूति के लिए एक बोध-पक्ष अपेक्षित है, यद्यपि आत्मवादी व्याख्याओं के अनुसार उसे 'सुन्दर' कहने के लिए, उसमें सौन्दर्य-तत्त्व के आधान के लिए 'हृदय-संवाद' अपेक्षित है तो खोजना पड़ेगा कि हृदय-संवाद के नियामक तत्त्व कौन-कौन से हो सकते हैं ?

यहां एक घटना तुम्हारे सामने रख दूं । एक बार एक सिनेमा में एक करुण दृश्य था जिसमें शायद गीताबाली बड़ा सफल अभिनय कर रही थी । मेरी आँखों में आंसू छलक आये थे । पर आगे की सीटों से अश्लील छींटाकशी की आवाज कसने वाले कुछ 'सहृदय' अपने भिन्न हृदय-संवाद का परिचय दे रहे थे । तो भाई, जो लोग रस-भूमिका के लिए अपेक्षित हृदय-संवाद को मात्र वैयक्तिक प्रतिक्रिया तक सीमित

करते हैं वे रसास्वाद की महार्घता को बहुत छोटा करते हैं, मैं ऐसा मानता हूं। हृदय-संवाद के लिए 'हृदय' व्यक्ति-मन की अपेक्षा 'सामाजिक मन' अधिक होता है। अतः मेरी दृष्टि में हृदय-संवाद का नियामक सबसे बड़ा तत्त्व कहीं न कहीं सामाजिक मूल्य-चेतना से जुड़ा होता है।

अभिनव के उपर्युक्त उद्धरण में तुम्हें तीन विशेषण बिखरे मिलेंगे। वे हैं—'सुन्दर', 'समुचित' और 'सुकुमार'। तीनों के सन्दर्भ तीन चीजों से जुड़े हैं; यहां छोड़ो उनको। 'सन्दर' के सन्दर्भ में मेरी दृष्टि में मूल्य-बोध नियामक है, यह मैं अपनी बात अभी तुम्हारे सामने रख चुका हूं। और 'समुचित' की व्याख्या तो मूल्य-बोध के बिना हो ही नहीं सकती। समुचित के लिए 'औचित्य' का मान-दंड क्या हो ? औचित्य देश, काल, समाज की सीमाओं में निरंतर परिवर्तमान—विकासमान एक सामाजिक चेतना ! सच्ची बात यह लगती है कि 'औचित्य' अपने में स्वयं एक मूल्य-बोध है।

हां, तीसरे विशेषण 'सुकुमार' के बारे में कुछ कहना चाहता हूं। 'सुकुमार' का अर्थ 'कोमल' करना मेरी दृष्टि में औपचारिक है। सुकुमारता का बोध मूलतः स्पर्शेन्द्रिय का बोध नहीं है। कौमार्य नवता का बोधक है, भोग असंपृष्टता का, चिर-नवता का। इसे ही माघ ने 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' कहकर प्रस्तुत किया था। अंग्रेजी के शब्द 'फ्रैशनैस' से कुछ इसका संकेत मिल सकता है। स्वसंविद् की, चेतना की यह सुकुमारता, यह ताजगी, भाव की वासना के निरंतर अनुरंजन से उपलब्ध होती है। इस भाववासनानुरंजन को 'सौन्दर्य' और 'समुचितत्व' के स्तरों पर मूल्य-बोध से काट दिया जाएगा तो अनुभूति का क्या स्वरूप होगा, तुम स्वयं बता सकते हो। सो भाई, मेरी दृष्टि में आनन्द-चर्वणा में आत्म-संविद् की जो सुकुमार और उदात्त भूमिका उन्मिषित होती है उसे मूल्य-बोध से नहीं काटा जा सकता।

भारतीय आचार्यों ने रस में 'औचित्य' को एक संनिविष्ट व्यापक मूल्य के रूप में ग्रहण किया है सो समझ-बूझ कर ही। यह 'औचित्य' मूल्य-बोध का पर्याय भर है, और कुछ नहीं। और मूल्य-बोध की मूल आधार-भूमि समाज-सापेक्ष ही निर्धारित हो सकती है, उसे तुम चाहो तो 'सहृदय-सामान्य' भी कह लो। तभी रस-भूमिका सहृदय-संवेद्य होने के साथ ही 'सकलसहृदयसंवादभाजकता' के गुण से भी युक्त होती है, अभिनव की भी इसमें कम गवाही नहीं है।

सो भाई, समाज-सापेक्ष मूल्यवत्ता से काटकर न तो सौन्दर्य की बात और न रस की बात, अपने गले उतरती है। भारतीय आचार्यों के कथन में मुझे इस बात से विसंगति नहीं लगती। अभिनव जैसे लोगों में भी नहीं। ढेर से उद्धरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। तुमने भी बहुत से देखे हैं।

मुझे लगता है, अपनी बात तुम तक पहुँचा चुका हूं। सौन्दर्यानुभूति और रसा-

नुभूति की एक 'कॉमन' भूमि है, उसे मूल्य-बोध से अलग नहीं किया जा सकता, भले ही सौन्दर्य और रस की चेतना को कितने ही सूक्ष्म स्तरों पर प्रतिष्ठित किया जाय। और एक बात कह दूं—जब हम सौन्दर्यानुभूति या रसानुभूति को वैयक्तिक अनुभूति की सूक्ष्मता पर उतारते हैं तो द्वैत की बहुतायत तो कम होती चली जाती है, लगता है कि समाज से हटकर हम व्यक्ति तक सीमित हो रहे हैं; पर होता यह है कि वह 'व्यक्ति' 'विश्व' का पर्याय बनता चला जाता है। 'व्यष्टि' से 'विश्वात्मा' बना देना ही कला की सच्ची कलात्मता है। 'रसो वै स:' का 'स:' छोटा नहीं है। वह 'स:', वह 'विश्वात्मा', वह 'संविद्‌भूमिका' 'मूल्य' का उदात्त स्वरूप ही तो है। अत: समीक्षा 'रस' को मूल्य-बोध से काटेगी तो उसके हाथ कोई निष्प्राण रस ही रह जाएगा।

मैं जानता हूँ, इन चलती बातों से तुम्हें सन्तोष न होगा। उसे फिर कभी देखा जाएगा। भाई, चिट्ठी तो चिट्ठी ही रहेगी, चिट्ठा नहीं बन सकेगी।

परिवार में सबको स्नेह-सद्‌भाव सहित :

—आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़

नैतिक बोध और सौन्दर्य-बोध

"वास्तव में उच्चकोटि का नैतिक बोध और उच्चकोटि का सौन्दर्य-बोध, कम-से-कम कृतिकार में प्राय: साथ-साथ चलते हैं। क्यों? क्योंकि दोनों बोध मूलत: बुद्धि के व्यापार हैं, मानव का विवेक ही दोनों के मूल्यों का स्रोत है और दोनों के प्रतिमानों या मानदंडों का आधार। विवेकशील मानव की–विशेषकर उस विवेकशील मानव की, जिसमें सर्जनात्मक शक्ति या प्रतिभा भी है—ग्राहकता दोनों को ही पहचानती है। बुद्धि, और जिस पर बुद्धि आधारित है वह अनुभव—निरन्तर विकासशील और सस्कारशील है। निरन्तर सूक्ष्मतर होती हुई संवेदना एकांगी भी हो सकती है पर जहां सर्जनात्मक शक्ति है वहां एकांगिता की संम्भावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य-बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध भी होता ही है।"

—सच्चिदानन्द वात्स्यायन
('आधुनिक हिन्दी साहित्य' से)

सौन्दर्य : स्वरूप-विवेचन

कु० सुषमा भसीन

मानव-मन जीवन जगत् में सौन्दर्य की अनुभूति सार्वजनीन रूप में करता है। परन्तु इस अनुभूति के बावजूद मनुष्य इदमित्थं कहकर सौन्दर्य का व्याख्यान नहीं कर पाता। सौन्दर्यानुभूति मनुष्य के मन को कुछ इस प्रकार अभिभूत कर देती है कि बुद्धि के द्वारा उसका संधान असंभव हो जाता है। वह ऐसी उलझन है जिससे सुलझन रूठी हुई है।[1] वस्तुतः सौन्दर्य अनुभूति का विषय है, बुद्धि का विषय नहीं और विद्यापति की राधा के शब्दों में—"अनुभव काहु न पेख।"[2] सौन्दर्य की व्याख्या में इसी कठिनाई को लक्ष्य कर शिप्ले का कहना है :

"The road to beauty is packed with graves of theories, but the ghosts walk, and as the road is always misty, few can tell the vital from dead The works of art wing high and clear to the goal."[3]

'सौन्दर्य' शब्द सुन्दर की भाववाचक संज्ञा है। वाचस्पत्यकोश के अनुसार 'सु' उपसर्ग पूर्वक उन्द् में 'अरन्' प्रत्यय संयोजित करके 'सुन्दर' शब्द की सिद्धि की गई है जिसका अर्थ हुआ अच्छी तरह आर्द्र करने वाला।[4] नन्द् धातु से भी 'सुन्दर' की व्युत्पत्ति की गई है, जिसके अनुसार सुन्दर का अर्थ होता है भली प्रकार प्रसन्न करने वाला। वामन शिवराम आप्टे ने 'सुन्दर' की व्युत्पत्ति सुन्द्+अर् से की है।[5] 'शब्द कल्पद्रुम' के अनुसार सुन्दर का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—"सुष्ठु उनन्ति आर्द्री करोति चित्तमिति।"[6] अर्थात् जो चित्त को भली प्रकार आर्द्र करता है। इस प्रकार सौन्दर्य शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है दर्शक या प्रमाता के चित्त को भली प्रकार आर्द्र करने वाला वस्तु का धर्म। यह सौन्दर्य के प्रभाव का सामान्य कथन मात्र है। रस

1. मेरी अक्षय निधि ! तुम क्या हो, पहचान सकूंगा क्या न तुम्हें ?
   उलझन प्राणों के धागों की, सुलझन का समझूं मान तुम्हें। — कामायनी, पृ० 66.
2. विद्यापति का अमर काव्य : डा० गुणानन्द जुयाल, पदसंख्या 75.
3. Dictionary of world literature, Joseph J. Shipley, P. 36.
4. वाचस्पत्य कोश, पृ० 5314.
5. संस्कृत हिन्दी कोशः वी. एस. आप्टे, पृ० 1115.
6. शब्द कल्पद्रुम, पंचमखण्ड, पृ० 373.

का भी वही धर्म हैं—मन का आर्द्रीकरण। सौन्दर्य और रस के अतिरिक्त अन्य कारणों से भी मन आर्द्र हो सकता है। अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से सौन्दर्य की प्रकृति एवं स्वरूप का निर्धारण नहीं किया जा सकता। डा० फतहसिंह ने वैदिक संदर्भों में 'सुन्दर' की अवस्थिति का संधान करते हुए बताया है कि 'सुम्' शब्द ऋग्वेद के सु + ऊँ से मिलकर बना है जिसका प्रयोग प्राचीनकाल में सुखद अनुभूति के लिए किया गया होगा। "फलस्वरूप जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर उक्त 'सुम्' नामक आनन्दानुभूति होती थी उसको सुन्दर कहा जाता था सुम् देने की सामर्थ्य से युक्त)।"[7] डा० एस० टी० नरसिंहाचारी वैदिक साहित्य में सौन्दर्य के लिए 'सुनर' का प्रयोग देखकर ऐसा अनुमान करते हैं कि वैदिक काल में सौन्दर्य के अर्थ की व्याप्ति प्राणी जगत् तक ही सीमित रही होगी।[8] लौकिक संस्कृत में उसके अर्थ में विस्तार हुआ और वह सभी मूर्त्त वस्तुओं के सौन्दर्य का द्योतक बना। पाश्चात्य संपर्क में आने पर आधुनिक भाषा साहित्य में उसका प्रयोग रूप के आन्तरिक और बाह्य सभी पक्षों के आकर्षण के लिए होने लगा।

व्यावहारिक दृष्टि से सौन्दर्य का प्रयोग संदर्भानुसार अनेक अर्थों में होता है :—

1. दर्शनीय वस्तु के रूप की विशेषता के अर्थ में, 2. वस्तु के विशिष्ट मूल्य के अर्थ में, ३. रूप सौन्दर्य के द्वारा प्राप्त विशिष्ट आनन्दानुभूति के अर्थ में, 4. कला या साहित्य में भाव और कर्म की संवेद्य अभिव्यक्ति से प्राप्त आनन्दानुभूति के अर्थ में, 5. साहित्य और कलाओं में निहित अभिव्यक्ति की मार्मिकता के अर्थ में आदि।

संस्कृत में सौन्दर्य के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं। उनमें अधिकांश रूप की प्रशंसा या मन पर उसके प्रभाव के द्योतक हैं, जैसे—साधु, मंजु, मनोहर आदि। कुछ ऐसे शब्द हैं जो रूप सौन्दर्य के विशेष पहलुओं को व्यंजित करते हैं जैसे—आभा, कान्ति, द्युति, रूप, लालित्य, रमणीयता, सौष्टव, शोभा, सुषमा, चारुता, लावण्य, छवि, श्री आदि। 'छवि' शब्द व्युत्पत्ति के अनुसार निर्दोष रूप को प्रकट करता है। "छूयति सूक्ष्मं करोति यद्वा छूयति छिनत्ति दूरीकरोति मालिन्यादि कुवेशमिति।"[9] यह सौन्दर्य का निषेधात्मक नहीं, विधायक धर्म है। छवि का सौन्दर्य वस्तु के स्फुट अवयवों का नहीं, समग्रता की झांकी का सौन्दर्य है। 'सुशोभन समं सर्व्व यथा' सुषमा है। इसमें अंगांगों के सौष्ठव और सर्वव्यापी शोभा की व्यंजना निहित है। लावण्य अन्तः-सौन्दर्य का निरूपक है जो रूपगत तरल आभा द्वारा दर्शक में स्पर्श की चाह उत्पन्न करता है। रमणीय, चारु, रुचिर आदि शब्द अनुभूति की दृष्टि से सौन्दर्य की

---

7 भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृ० 7.

8 सौन्दर्यतत्व निरूपण, पृ० 2.

9 शब्द कल्पद्रुम, द्वितीय खण्ड, पृ० 847.

व्याख्या करते हैं। रमणीय मन को रमाने वाला रूप है। चारु—चरति चित्तं इति। रुचिर सौन्दर्य की आस्वादनीयता का व्यंजक है। लालित्य, कोमलता, सौकुमार्य, शोभा, कान्ति, आभा आदि समष्टिगत रूप या अवयवों के आकर्षक धर्म हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य के ये पर्यायवाची शब्द उसके आन्तरिक और बाह्य धर्मों को, व्यष्टि और समष्टि रूप की विशेषताओं को, अनुभूति की प्रक्रिया और स्वरूप को, रूप की निर्दोषता और प्रशंसनीयता को व्यंजित करते हैं। सौन्दर्य के समस्त पक्षों की ओर उनके सकेत से भारतीय सौन्दर्य-दर्शन की समग्रता प्रकट होती है। भारतीय चिन्तन के इतिहास में सौन्दर्य शास्त्र की पृथक् कल्पना नहीं की गई है, परन्तु सौन्दर्य की मर्मज्ञता को प्रकट करने वाले अनेक विकीर्ण सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं।

अंग्रेजी में सौन्दर्य का पर्यायवाची शब्द है ब्यूटी (Beauty)। आक्सफोर्ड शब्द कोश के अनुसार 'ब्यूटी' मानवीय मुख, रूप या इतर वस्तुओं में आकृति, अनुपात, रंग आदि गुणों का ऐसा संयोग है जो नेत्रों को आनन्द प्रदान करता है।[10] अंग्रेजी में संस्कृत के समान 'ब्यूटी' के बहुत पर्यायवाची शब्द नहीं मिलते। जो शब्द मिलते भी हैं वे समानार्थक न होकर रूप सम्बन्धी विशिष्ट धर्मों के प्रतिपादक हैं। ये सौन्दर्य के आकर्षण के सोपानों को भी व्यक्त करते हैं। प्रेट्टी (Pretty) लघुरंजक रूप है, जिसका आकर्षण सामान्य है। ग्रेसफुल (Graceful) सुसंस्कृत व्यवहार, गति, शैली आदि की नागरिक भावना को व्यक्त करता है। लवलीनेस (Loveliness) प्रशंसनीय और आनन्दमय रूप का धर्म है। ब्रिलियेन्स (Brilliance) और लस्टर (Lustre) रूप की उज्ज्वल कान्ति के द्योतक हैं। प्रथम में कान्ति की प्रमुखता है, दूसरे में कान्ति की अधिकता की व्यंजना है जो रूप से चतुर्दिक् छलकी पड़ती है। प्रथम तीन शब्दों में सामान्य सौन्दर्य की व्यंजना है, अन्तिम दो शब्द सच्चे सौन्दर्य के प्रतिपादक हैं। ग्रैण्ड्योर (Grandeur) और स्प्लेण्डर (Splendour) सौंदर्य की पराकाष्ठा को व्यक्त करते हैं। रूप की शालीनता, गौरवशालिता, गतिशीलता और शक्तिशाली प्रभावोत्पादकता 'ग्रेण्ड्योर' है और स्प्लेण्डर इससे भी उच्चकोटि का उज्ज्वल और वैभवशाली भव्य सौन्दर्य है। ब्रेडले ने अनुभूति की दृष्टि से सौन्दर्य की पाँच श्रेणियाँ बनाई हैं[11] —रंजक (Pretty), शोभामय (Graceful), सुन्दर (Beautiful), भव्य (Grand) और उदात्त (Sublime)।

जिस प्रकार सौन्दर्यवाची अनेक शब्दों में से कोई भी सौन्दर्य के समग्र रूप की व्यंजना नहीं कर पाता, उसी प्रकार सौन्दर्य सम्बन्धी अनेक सूक्तियाँ और परिभाषाएँ भी सौंदर्य के भिन्न पहलुओं को ही व्याख्यायित करती हैं। उसकी समग्रता

---

10. The Concise Oxford Dictionary ; Beauty, P. 162. (Reprinted 1954)

11. A. C. Bradley : Oxford Lectures on Poetry, P. 40.

की व्यंजक कोई परिभाषा नहीं बन पाती। अत: विभिन्न सूक्तियों के प्रकाश में ही सौन्दर्य का स्वरूप समझने की चेष्टा की जा सकती है। सौन्दर्य के स्वरूप को मुख्यतः तीन दृष्टियों से समझा जा सकता है—विभाव, आश्रय और अनुभूति-प्रकिया। यों और भी दृष्टियाँ हो सकती हैं, सर्जक, ग्राहक, प्रभाव, उद्देश्य आदि की।

सौन्दर्य रूप (आकृति) का परम वैभव है जो आश्रय के मन को आकृष्ट करता है। इसीलिए भारतीय दार्शनिक सिद्धान्तों ने सृष्टि को माया तो घोषित किया, किंतु उसके विपरीत अलौकिक ईश्वरीय लीला के अद्भुत सौंदर्य पर मुग्ध भी हुए। भागवतकार का कहना है–'तदैव रूपं रुचिरं नवं-नवं तदैव शाश्वन्मनसो महोत्सवम्।'[12] इस आकर्षण में ही सौन्दर्य की सत्ता का बोध होता है। नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से रूप आश्रय के मन को आकृष्ट करता है।

रूपाश्रित सौन्दर्य की अनुभूति की प्राथमिक स्थिति शुद्ध ऐन्द्रिय होती है। सात्विक, कायिक और वाचिक अनुभावों द्वारा उसका व्यक्तिकरण होता है। ऐन्द्रिय अनुभूति मन में संक्रमित होकर अनेक सहचारी भावों का संचार करती है। पुनः-पुनः दर्शन की लालसा, प्राप्ति की अभिलाषा, अतृप्ति, व्याकुलता आदि ऐन्द्रिय अनुभूति की क्रियाशीलता के परिणाम हैं। स्वयं सुन्दर और पूर्णकाम होते हुए भी श्रीकृष्ण का मन रुक्मिणी के लिए व्याकुल रहता है—

अति प्रेरित रूप अँखियाँ अत्रिपत,
माइव जद्यपि त्रिपत मन।
बार-बार मुख करै विलोकन।
धन मुख जेइ रंक धन॥[13]

विद्यापति की राधा जीवन पर्यन्त रूप निहारती रही, तब भी नयन तृप्त नहीं हुए—

'जनम अवधि हम रूप निहारल नयन न तिरपित भेल।'[14]

इस अतृप्ति का कारण है सौन्दर्य की रहस्यमयता जो बुद्धि को अभिभूत कर देती है। प्रत्येक अवलोकन में उसका नया-नया ही भाव निखरता है, नई छटा दीख पड़ती है—

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारिये।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी, अधानि कहूँ नहि आन तिहारिये॥[15]

इसीलिए माघ ने सौन्दर्य के रूप सौष्ठव की अपेक्षा उसकी नित्य नूतनता

12. श्रीमद्भागवत, द्वादश स्कन्ध, अध्याय 12, श्लोक 49.
13. पृथ्वीराज : बेलिक्रिसन रुक्मिणी री, छन्द-17.
14. विद्यापति का अमर काव्य : डा० गुणानन्द जुयाल, पद संख्या 75.
15. घनानन्द कवित्त : सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छन्द 15.

और स्पन्दनशील सजीवता को ही उसका रूपत्व माना है।

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः ।।[16]

विलियम नाइट का कहना है कि यही रहस्यमयता सौन्दर्य का लक्षण है :—

"Beauty reveals itself to us in a series of steps, but at last it remains a mystery and without mystery there would be no beauty. There must be in every work of art as in every material object that is beautiful. something that we feel but do not know, something apprehend, but do not comprehend."[17]

सौन्दर्य जहाँ ऐन्द्रिय धरातल पर मन को व्याकुल और उत्तेजित करता है, अनुभूति की चरम स्थिति पर वह आनन्दप्रद हो जाता है। इस आनन्दानुभूति के साथ-साथ उसकी रमणीयता भी संवर्द्धित होती जाती है। इसीलिए कीट्स कहते हैं :—

"A thing of beauty is a joy for ever
Its loveliness increases b
It will never pass into nothingness."[18]

सौन्दर्यानुभूति मनुष्य के हृदय में कोमलता, उदारता, व्यापकता, परिष्कृति आदि का सचार करती है। वास्तविकता की गहनता में ले जाकर सच्चा आनन्द प्रदान करती है।[19] इस अपूर्व आनन्दानुभूति का आधार ही सौन्दय कहा जा सकता है। नित्य नवीनता ही इसका लक्षण हो सकता है :—

"स्याम सो काहे की पहिचानि।
निमिष निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजे जिहि जानि।"[20]

प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता के कारण ही सौन्दर्य का यथार्थ चित्रांकन संभव नहीं है—

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर।।"[21]

सौन्दर्य की यह अनुभूतिमूलक व्याख्या बाह्यरूप सापेक्ष ही नहीं है। बाह्य-

---

16. माघ: शिशुपालवध, 8/17.
17 W. Knight : The Philosophy of the Beautiful, P. 82.
18. John Keats: Endymion, Book I. Lines 1-3.
19. "Not, let me repeat the beauty is a embellishment an added quality, it penetrates the vision of reality to the very core and it belongs to whatever joy or satisfaction we derive from it."

    R. A. Scott James : The Making of Literature, P. 334-35
20. सूरदास : सूरसागर(2), सं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पद सं० 247.
21. बिहारी रत्नाकर, दोहा-347.

रूपाकृति तो स्थितिशील है। सौन्दर्य की गतिशीलता प्रमेय की मानसिक चेतना की सजीवता पर निर्भर है। जब वाह्यरूप पर आत्मा की मंगलमय छाया पड़ती है तब वह आत्मप्रकाशमय होकर अत्यन्त भव्य हो उठता है। उसके प्रकाश से आस-पास का वातावरण भी प्रकाशित हो उठता है। सौन्दर्य का यह वासनारहित और निःस्वार्थ रूप ही वास्तविक है।[22]

कालिदास ने पार्वती के रूप को निष्पाप और शिव से समन्वित रूप में देखा है :—

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥[23]

वासना को उत्तेजित करने वाला रूप-सौन्दर्य अपनी लक्ष्यपूर्ति में असफल रहता है, अतएव निन्दनीय है :—

तथा समक्षं दहता मनोभव पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥[24]

भारतीय आत्मवादी दृष्टि के अनुरूप भारतीय कवियों और चिन्तकों का सौन्दर्य-दर्शन केवल ऐन्द्रिय धरातलों तक ही सीमित न रहकर मानसिक पहलुओं की ओर भी उन्मुख हुआ। कालिदास ने इन्दुमति को संचारिणी दीपशिखा कहकर सौन्दर्य की रूपगत आन्तरिक ज्योति की ओर मार्मिक संकेत किया है।[25] ऐन्द्रिय सौन्दर्य का नवोन्मीलन नवयौवन का अद्‌भुत वरदान है। पार्वती के शरीर की नवयौवन-जनित शोभा का वर्णन कालिदास इस प्रकार करते हैं :—

उन्मीलितम् तूलिकयेव त्रित्रम् सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविंदम्।
बभूव तस्याः चतुरस्रशोभी वपुर्विभक्तं नवयौवनेन॥[26]

---

22. "At first we detach beauty from its surroundings, we hold it apart from the rest, but at the end we realise its harmony with all ....when we have the power to see things detached from self interest and from the insistant claims of the lust and of the senses, then alone can we have the true vision of the beauty that is every where."
—Rabindra Nath Tagore : Sadhana, P. 139-40
23. कुमारसंभव, 5/36.
24. वही, 5/1.
25. संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥"
—रघुवंश, 6/67.
26. कुमारसंभव, 1/32.

पार्वती के रूप निर्माण में उचित द्रव्य रूपी साधनों के द्वारा औचित्यपूर्ण उपनिबन्धन और सामजस्ययुक्त तथा सौष्ठवपूर्ण रूप-रचना में कलाकार के मन की आनन्दानुभूति का निदर्शन कराया है कालिदास ने—

"सर्वोपमाद्रव्य समुच्चयेन यथा प्रदेशं विनिवेशतेन ।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ।।[27]

रूप-सौन्दर्य ध्यान योग के साथ सर्जक की मानसिक परिकल्पना से समुद्भूत होता है :—

चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा
रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।[28]

किंतु वास्तविक सौन्दर्य को रेखाओं में बांधना कठिन है। लावण्य का अंश मात्र ही रूप में व्यंजित हो पाता है :—

'तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम् ।[29]

कालिदास के अनुसार सच्चा सौन्दर्य नैसर्गिक होता है। वह अलंकरण की अपेक्षा नहीं रखता :—

सरसिज मनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं, मालिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी, किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।।[30]

सौन्दर्य सभी अवस्थाओं में आकर्षण-सम्पन्न रहता है, यह उसका सार्वभौम धर्म है :—

सर्वावस्थासु रमणीयत्वम् आकृति विशेषाणाम् ।[31]

रमणीयता आहार्य गुणों की अपेक्षा नहीं रखती—कालिदास के समान भारवि भी यही कहते हैं :—

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ।[32]

सौन्दर्य को प्रकृति और जीवन की वास्तविकता के परिपार्श्व में ही समझा जा सकता है। शिव के समान सौन्दर्य का सम्बन्ध सत्य से भी है। जीवन का सत्य अलौकिक और लौकिक दोनों रूपों में ग्रहण किया जा सकता है। आध्यात्मिक सत्य कल्पना और आदर्श पर आधारित होकर सौन्दर्य को भी सूक्ष्मता प्रदान करता है, दूसरी ओर वास्तविक जीवन का सत्य सौन्दर्य को यथार्थ से सम्बद्ध रखता है। रूपवादी कल्पना के द्वारा शुद्ध सौन्दर्य की सृष्टि के प्रयास में उसे जीवन रस की

---

27. कुमारसंभव, 1/49.
28. अभिज्ञान शाकुंतलम् 2/9.
29. वही, 6/14.
30. वही, 1/19.
31. कालिदास : अभिज्ञानशाकुन्तलम्
32. किरातार्जुनीय, 4/23.

जीवता से विच्छिन्न कर देते हैं। आचार्य शुक्ल ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' नसबन्धि में उसका तीव्र विरोध किया है ।[33]

जिस प्रकार सौन्दर्य वस्तु-रूप का धर्म है, शुद्ध भौतक पदार्थ नहीं, उसी प्रकार उसकी अनुभूति भी शुद्ध मानसिक या मनोवैज्ञानिक भावना नहीं है । वह वस्तु-रूप और प्रमाता-मन के सम्बन्ध सूत्र पर आधारित है । वस्तु की विशिष्टता आत्मा के प्रक्षेपण से समुज्ज्वल हो उठती है तो आत्मा स्वयं भी वस्तु के रूप से क्रियाशील होती है ।[34] सौन्दर्य रूप और नेत्र की विशिष्टता में ही नहीं, उनके उचित संयोग में भी है। इसीलिए कविवर बिहारी ने कहा है :—

'रूप रिझावनहारु वह ए नैना रिझवार'

सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में वस्तु और आश्रय के बीच सम्बन्ध सूत्र को महत्त्व देते हुए आचार्य शुक्ल ने समन्वित दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है :—"सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है । यूरोपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या दूर की कौड़ी समझी गई है, पर वास्तव में यह भाषा के गड़-बड़झाले के सिवा और कुछ नहीं है । जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं । कुछ रूप रंग की वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधि-कार कर लेती हैं कि उसका ज्ञान हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं । हमारी अन्त सत्ता की यही तदाकार परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है । जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी । इस विवेचन से स्पष्ट हैकि भीतर बाहर का भेद व्यर्थ है । जो भीतर है वही बाहर है ।"[35]

सौन्दर्य की अनुभूति देशकाल-व्यक्ति सापेक्ष भी होती है । वस्तुगत सत्ता के सन्दर्भ में सौन्दर्य सार्वभौमिक होता है । प्रत्येक देशकाल के मानव-मन को वह प्रभावित करता है । वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य की सार्वभौमिकता मानव-प्रकृति की समानता पर आधारित है । सौन्दर्य शास्त्र में इसे अभिरुचि कहा जाता है और इसी के आधार

---

33. चिन्तामणि. भाग-2, पृ०-212.

34. "Beauty is not an absolute but a relative conception. It exists neither as a physical fact nor as a psychic fact ; it is the result of close connection between an object ; for the attributes of the one from the appropriate origin the perceptive enjoyment of other."

Encyclopaedia of Religion & Ethics : Ed. J. Hastings (1915), P. 449.

35. चिन्तामणि (प्रथम भाग) पृ० 164-65.

पर सौन्दर्य का ग्रहण और आस्वादन होता है। अभिरुचि के दो पहलू हैं—मनोवैज्ञानिक और सामाजिक । सौन्दर्य की सार्वजनीनता अभिरुचि के मनोवैज्ञानिक पक्ष से सम्बन्धित है। सामाजिक संदर्भ में अभिरुचि देश-काल सापेक्ष हो जाती है। देश-काल के परिवेश और संस्कारों से नियमित होने पर सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि में भी परिवर्तन हो जाता है। सौन्दर्य के प्रति सहृदयतागत मनोवैज्ञानिक सहज आकर्षण-वृत्ति शाश्वत रहने पर भी सौन्दर्य के बाह्य रूपात्मक आदर्शों में भिन्न-भिन्न देश और काल में भिन्नता दीख पड़ती है। व्यवहार में सौन्दर्य की धारणा का निर्धारण सामाजिक-सांस्कृतिक संस्कारों से नियंत्रित होता है। जब प्राचीन भारतीय सौंदर्य भावना को काल्पनिक और आध्यात्मिक तथा पाश्चात्य सौन्दर्य भावना को ऐन्द्रिय कहा जाता है तो उसका कारण दोनों देशों की दार्शनिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विभिन्नताओं से विकसित सौन्दर्य संस्कार ही है। एक ही देश की विभिन्न कालों की सौन्दर्य भावना का अन्तर भी इसी आधार पर होता है।

सौन्दर्यानुभूति का एक पक्ष व्यक्ति-सापेक्ष भी होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कलाकार और भावक दोनों में सौन्दर्य के भावन की योग्यता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सौन्दर्यानुभूति का एक मनोवैज्ञानिक पहलू और भी है जिसे पूर्णतः वैयक्तिक कहा जा सकता है। सौन्दर्य-भावना का काम वृत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। कामवृत्ति या यौन भावना की तीव्र आकांक्षा का ही परिणाम सौन्दर्यानुभूति है। अवस्था (आयु), वातावरण, सामाजिक संस्कार, साहचर्य, दूरी आदि अनेक तत्वों से प्रभावित काम के विकास-प्रसार को लेकर सौन्दर्यानुभूति की प्रकृति और स्वरूप का निर्धारण होता है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सृष्टिगत सौन्दर्य और कलागत सौन्दर्य में भी अन्तर प्रतिपादित किया है। उनके प्रतिपादन का निष्कर्ष यह है कि सृष्टिगत सौन्दर्य स्थिति या निष्काम अभिव्यक्ति है। कलागत सौन्दर्य गतिशील कामना से प्रेरित सर्जना है, जिसमें ग्राहक तक सौन्दर्य के संक्रमण का उद्देश्य अन्तर्निहित रहता है। मानव मन की अनन्त कामनाओं के अनुरूप सौन्दर्य-सृष्टि भी अनन्तरूपा है।

कलागत सौन्दर्य अनुकृतिमूलक न होकर प्रकृति के नियमों के आधार पर नवीन सर्जना का सौन्दर्य है। उसके लिए वस्तु की समग्र और सम्पूर्ण अनुभूति परमावश्यक है।[36] इस समग्र अनुभूति के बल पर कलाकार सर्वांगसमन्वित सूक्ष्म और

---

36. "It must be the experience whole and entire both what I saw and what I felt in perfect combination."
 --L. Abercrombie : Principles of literary criticism, P. 34.

आत्मगत सौन्दर्य की सृष्टि करता है।[37]

आलोचना के क्षेत्र में इस कलागत सौन्दर्य की व्यावहारिक व्याख्या का प्रयत्न किया जाता रहा है। काव्यशास्त्र उसे सैद्धान्तिक रूप में ही स्पष्ट करने का प्रयास करता है किंतु व्याख्याओं की अनन्तता और सिद्धान्तों की बहुलता इस बात का प्रमाण है कि सौन्दर्य पूर्णतया उनकी पकड़ में नहीं आता और उसे पकड़ने के नए-नए प्रयत्न होते रहते हैं। सौन्दर्य शास्त्र के दार्शनिक प्रयासों की भी यही कथा है।

—10/1, श्यामपुरी
खतौली (मुजफ्फरनगर)

37 "There is a beauty which requires a working of human thought to elicit it from nature, a beauty not of parts and single person, but of complex **totalities**, a beauty not of flesh-and-blood, but of mind, imagination, feeling. It is the synthetic, intellectual, spirit penetrated beauty to which the arts aspire."

—K. S. Ramaswami : Indian Aesthetic, P. 20-21.

है भव्य भारत ही हमारी
मातृभूमि हरी भरी,
हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा
और लिपि है नागरी।

—मैथिलीशरण गुप्त

मेरठ विश्वविद्यालय
हिन्दी परिषद को
हार्दिक शुभकामनायें।

रस्तोगी पब्लिकेशन्स
शिवाजी रोड, मेरठ

"मनुष्य की बनाई हुई कोई भी संस्था ऐसी नहीं है जिसमें खतरे या दोष न हों। संस्था जितनी ही बड़ी होती है, उसके दुरुपयोग की उतनी ही अधिक संभावनाएं होती हैं। लोकतंत्र महान संस्था है अतः उसका दुरुपयोग भी बहुत हो सकता है। इसका इलाज लोकतंत्र से बचना नहीं बल्कि उसके दुरुपयोग की संभावना को कम से कम करना है।"

—**महात्मा गांधी**

सौन्दर्य शास्त्र का क्षेत्र

प्रो० सुधा कौल

एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में 'सौन्दर्यशास्त्र' का जन्म सन् 1750 में प्रसिद्ध विद्वान् बाउमगार्तेन द्वारा हुआ। सौन्दर्यशास्त्र' शब्द अंग्रेजी के 'एस्थेटिक्स' का हिन्दी पर्याय है और इस विषय पर पर्याप्त विवाद हो चुका है कि यह शब्द 'एस्थेटिक्स' का सही अर्थ देने में कितना सक्षम है किंतु उस विवाद से परे 'एस्थेटिक्स' के क्षेत्र पर विचार करने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक होगा कि इस शब्द से हमारा अभिप्राय क्या है? सौन्दर्य शास्त्र मूलतः सौन्दर्य का अध्ययन करता है। जार्ज सान्तायना ने अपनी पुस्तक 'दि सेंस ऑफ ब्यूटी' में यह स्पष्ट कर दिया है कि 'एस्थेटिक्स' का विषय अपने व्यापक अर्थ में सौन्दर्य चिन्तन है जिसमें कला सौन्दर्य सबन्धी सभी प्रश्न जुड़ जाते हैं।

सौन्दर्य शास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र के सम्बन्ध में विद्वानों के दो पक्ष हैं। एक पक्ष केवल वस्तु के सौन्दर्य को ही सौन्दर्य शास्त्र का क्षेत्र मानता है और दूसरा पक्ष उसके आस्वाद और आशंसा को। कहा जा सकता है कि सौन्दर्यशास्त्र की दो दृष्टियाँ है— एक वस्तुपरक और दूसरी आत्मपरक। जार्ज सान्तायना आत्मपरक दृष्टि के प्रमुख विद्वान हैं। सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा के संबंध में उन्होंने दो प्रमुख बातों पर बल दिया है। प्रथम तो सान्तायना यह मानते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र ऐन्द्रिय बोध व प्रत्यक्षीकरण का बोध देता है और दूसरी बात यह कि सौन्दर्य शास्त्र आलोचनात्मक और आस्वादमूलक ज्ञान है, उसमें मानव विवेक की सक्रियता निहित है। सौन्दर्य के दर्शन कर उसकी आलोचना हम प्रायः ही करते हैं। यह ही सौन्दर्य का भावन (Contemplation) है। इसी कारण सान्तायना यह स्वीकार करते हैं कि 'सौन्दर्य शास्त्र' के लिये निरीक्षण की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी आशंसा को।

सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन की दूसरी दृष्टि वस्तुपरक है जो वस्तु की बाह्य सत्ता को ही सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन का विषय मानती है। यह वर्ग सौन्दर्य के भावन की अपेक्षा उसके नियमों को महत्त्व देता है। कार्ल्टन के मत में—"सौंदर्यशास्त्री विभिन्न कला कृतियों तथा अनुरंजनकारी प्राकृतिक पदार्थों को विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत करके कलाकृति विशेष के प्रति आपकी मुग्धता की व्याख्या करते हुए बता सकता है कि वर्तुल आकृतियों और रंग संयोगों के परिणामस्वरूप उसका

सम्बन्ध किस नियम विशेष से है।" कार्ल्टन के दृष्टिकोण की वस्तुपरकता इसी से सिद्ध हो जाती है।

भारत में भी इसी प्रकार दो वर्ग रहे हैं। अलंकार, रीति और वक्रोक्ति को महत्त्व देने वाले वस्तुपरक दृष्टिकोण रखते हैं और रस और ध्वनि को महत्त्व देने वाले आत्मपरक।

सौंदर्यशास्त्र के अध्ययन की एक दृष्टि केवल कलाओं के अध्ययन को ही सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत मानती है। दूसरे शब्दों में सौन्दर्यशास्त्र कला शास्त्र का वाचक मान लिया गया है। कान्तिचन्द्र पाण्डेय की पुस्तक 'स्वतंत्र कला शास्त्र' का नामकरण इसी ओर संकेत करता है। हीगेल भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि फिलासफी ऑफ फाइन आर्ट्स' की भूमिका में स्पष्टत: स्वीकार करते हैं कि सही अर्थों में सौंदर्य-शास्त्र का सम्बन्ध ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य से ही है, अन्य किसी भी माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य से नहीं। साथ ही वह यह भी मानते हैं कि ललित कलाओं का तात्विक विवेचन सौन्दर्यशास्त्र का आधार है।

श्रीमती सूजन लेंगर सौन्दर्यशास्त्र को ललित कलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धान्तिक निरूपण मानती हैं। वे कला के रचनापक्ष अथवा अभिव्यक्ति पक्ष तथा भाव, आस्वाद पक्ष दोनों को महत्त्व देती हैं। श्रीमती लेंगर की तुलना में क्रोचे का मत एकांगी है। उन्होंने कलाभिव्यक्ति मात्र को ही सौन्दर्य-शास्त्र का विषय माना और भाव व आस्वाद पक्ष की बात बिल्कुल ही छोड़ दी। क्रोचे के मत में सौन्दर्य शास्त्र पुन: प्रत्यक्षात्मक और कल्पनात्मक क्रियाओं का अध्ययन करता है।

सौन्दर्य शास्त्र के अन्तर्गत कला को इतना महत्त्व प्रदान करने से कला-समीक्षा को उसमें एक महत्त्वपूर्ण स्थान मिल गया जिसे डा० निर्मला जैन ने Meta Criticism कहा है। इस बात को प्राय: स्वीकार किया जाने लगा है कि कला-समीक्षा की दृष्टि से ही सौन्दर्य शास्त्र का महत्त्व है। आलोचना की परिणति सौंदर्य शास्त्र में होती है। (Criticism leads to aesthetics) कला-समीक्षा और सौन्दर्यशास्त्र में वही सम्बन्ध है जो टेक्नालोजी और विज्ञान में है।

सौन्दर्य शास्त्र के अंतर्गत कला को महत्त्व देने से उसमें विभिन्न कलाओं की एक सामान्य आधार भूमि का महत्त्व अपरिहार्य हो जाता है। इस सम्बन्ध में पाटणकर ने बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार कला वास्तविक सौन्दर्य शास्त्री को सौन्दर्य शास्त्र के आधारभूत नियमों की खोज की दिशा में प्रेरित करेगी। यदि वह उसमें सक्षम हुआ तो वह कुछ सामान्य आधारभूत तत्त्वों का निर्धारण करेगा जो सभी कलाओं में लागू हो सकें। वस्तुत: कलाओं में कुछ आधारभूत तत्त्व अवश्य हैं जो सभी कलाओं को एक दूसरे से जोड़ते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में भी

काव्यकला, चित्रकला और संगीत कला के मध्य आधारभूत तत्त्वों का संकेत अनेक ग्रन्थों में मिलता है । इस सम्बध में 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रथ है । विटगेंस्टाइन ने पारिवारिक समरूपता का सिद्धान्त बताते हुए स्पष्ट किया है कि जैसे हॉकी और शतरंज अलग-अलग प्रकार के होते हुए भी खेल की इकाई के अन्तगत आते हैं, उसी प्रकार कलाओं में भी अपनी-अपनी विशिष्टता होते हुए भी एक सामान्य तत्त्व होता है जिसके कारण उन्हें कला के अन्तर्गत रखा जाता है ।

विद्वानों के उपर्युक्त मतों से स्पष्ट है कि कला को सौन्दर्यशास्त्र के अन्तर्गत महत्त्व देने के सम्बंध में विवाद है । वस्तुत: कला की अनेक दृष्टियाँ हैं और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि उनमें से एक है । सौन्दर्यशास्त्र का अध्ययन कला से अधिक व्यापक है । मानव उद्यम द्वारा बनाई गई अनेक वस्तुएँ नेत्राकर्षक होती हैं । सामान्य वस्तु बनाने में भी बहुत से समय और श्रम का व्यय होता हैं । सौन्दर्य की चिन्ता के बिना न मनुष्य अपना आवास चुनता है, न वस्त्र और न ही अन्य महत्त्वपूर्ण वस्तुएं । अत: कला-समीक्षा सौन्दर्यशास्त्र का एक अंग है । सौन्दर्यशास्त्र उस तक सीमित नहीं है और न ही वह इसका पूरा अध्ययन ही कर पाता है ।

सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत कला के अध्ययन के तीन आयाम हैं—भावन, विभावन और अनुभावन । कलाकार जब सौंदर्य से साक्षात्कार करता है तो उसकी चेतना आहत होती है और वह रचना की दिशा में प्रेरित होता है—यह भावन है । जब वह रचना-प्रक्रिया की दिशा में प्रेरित होता है तो उसे अपने कथ्य के लिए ढांचा तैयार करना होता है, उपमा, रूपक आदि का सहारा लेना होता है— यह सृजन प्रक्रिया विभावन है । जब कलाकृति की रचना होती है तो सहृदय उसकी समीक्षा करता है—यह पक्ष अनुभावन है । इस प्रकार कला-समीक्षा के यह तीन पक्ष हैं जो सौन्दर्यशास्त्र के अंतर्गत आते हैं ।

निष्कर्षत: सौन्दर्य शास्त्र का सम्बन्ध व्यापक सौन्दर्य से है। उसमें कलाकृतियों का सौन्दर्य भी आता है और कलाइतर वस्तुओं का भी किंतु प्रधानता कला-सौन्दर्य की ही है। कला-समीक्षा इसका अंग मात्र है, मूल नहीं ।

—हिन्दी विभाग
एम० एल० जे० एन० के० गर्ल्स कालेज,
सहारनपुर (उ० प्र०)

"भविष्य में संस्कृति का जो नवीन संचरण होगा, उसे हिन्दी अपने में समाहित करेगी। आने वाले युग की संस्कृति में जिन गुणों का समावेश होगा वे गंभीर, व्यापक और उच्च स्तर के होंगे। नवीन संस्कृति को व्यक्त करने के लिए भाषा झरने की तरह फूट निकलेगी, भाव उमड़-उमड़ कर आयेंगे। हिन्दी भाषा का सौन्दर्य ही कुछ विलक्षण है। मुझे विश्वास है कि एक दिन आयेगा जब हिन्दी विश्व की सांस्कृतिक भाषा होगी।"

—सुमित्रानंदन पंत

मीनाक्षी प्रकाशन

बेगम पुल, मेरठ

समीक्षा और सौन्दर्य बोध : एक ऐतिहासिक विवेचन

डा० नारायणदास समाधिया

समीक्षक की मूल दृष्टि ही सौन्दर्य-दृष्टि है। क्रमागत परम्परा से समीक्षा दर्शन और सौन्दर्य शास्त्र का समाकलन एक विलक्षण सूक्ष्म बूझ के साथ विभिन्न देशों तथा भाषाओं में हुआ है। समीक्षा तथा सौन्दर्य का अन्तरंग सम्बन्ध कला में निबद्ध तथ्यों के आधार पर है जिसमें युग चेतना के विशिष्ट मानदण्ड जीवनोद्भूत मौलिक अखण्ड एकत्व के साथ साहित्य के रूप सौन्दर्य मूल्य तथा चेतना विकासी मानव संवेदन में प्रतिबिम्बित है। देशकाल वातावरणजन्य विचारधाराओं और परिस्थितियों ने समीक्षकों को सौन्दर्य बोध के मूल उत्स से हटाकर विस्तीर्ण एवं संकीर्ण मान्यताओं के झमेले में भी उलझा दिया। फिर भी विषयगत (आब्जेक्टिव) सौन्दर्य के विषय में समीक्षा साहित्य का अपना एक स्वतन्त्र नियामक एवं निर्णायक पक्ष है।

प्राचीन भारत का सम्पूर्ण चिन्तनस्रोत काव्य शास्त्र विषयक आत्मा के अनुसंधान की ओर उन्मुख है। सौन्दर्य काव्यशास्त्र का एक अनिवार्य उपकरण है। सौन्दर्य का भी वहां एक स्वतन्त्र स्थान है जैसे रस, अलंकार आदि को प्राप्त है लेकिन संस्कृत साहित्य चिंतन में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। वैसे सौन्दर्य के द्योतक कई शब्द चमत्कार, चारुता, चारुत्व, सुन्दर, रमणीयता आदि साहित्य शास्त्र में विवेचित हैं। वास्तव में सौन्दर्य के कारण ही अलंकार, अलंकार है और गुण, गुण है। दण्डी ने "काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते" कहा है। वामन ने भी "सौन्दर्यालंकार" कहा है। आनन्दवर्धन ने काव्य के बाह्य तत्वों के आधार पर ही नहीं, काव्य के अंतरंग तत्वों के रूप में सौन्दर्य को अपेक्षित आधार बताया है।[1] अभिनव गुप्त ने तो सौन्दर्य को काव्य की आत्मा ही घोषित कर दिया है।[2] भरत मुनि, आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट आदि का अनुवर्तन करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने सौन्दर्य शास्त्र एवं मनोविज्ञान का पूर्ण मनोयोग काव्य परिभाषा में स्पष्ट किया है।[3] इस प्रकार संस्कृत समीक्षा साहित्य में सौन्दर्यानुभूति के विविध शब्द रूप-रस, ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, रीति और औचित्य की विशेष व्याख्या की गई है जिनका

1. ध्वन्यालोक, पृष्ठ 17।
2. चारुत्व प्रतीति स्तर्हि काव्यस्य आत्मा "स्यात" इति
   तरंगी कुर्म एव नास्ति खल्वयं विवाद इति "लोचन"
3. रमणीयार्थ प्रतिपादक : शब्दः काव्यम्

सीधा संकेत सौन्दर्य बोध की ओर है। 'सौन्दर्य' कविता के मूल तत्व के रूप में ग्राह्य है, सौन्दर्य से अलग-थलग कोई भी मत और वाद नहीं है।

पाश्चात्य साहित्य समीक्षा में यूनानी समीक्षक प्लेटो ने कवि को शिक्षक मानकर कविता का सम्बंध नैतिकता के साथ जोड़ा था। पाश्चात्य समीक्षा के आद्य आचार्य अरिस्टोटल ने सर्वप्रथम काव्य और कला की व्याख्या करते हुए नैतिकता और राजनीति के बंधन से अलग करके सौन्दर्य प्रतिष्ठा का गौरव प्रदान किया।[4] अठारहवीं शताब्दी में समीक्षा क्षेत्र में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ, जिससे साहित्यकारों का ध्यान कला के नियामक सिद्धान्तों की ओर गया तथा इंगलैंड, फ्रांस और जर्मनी में समीक्षा के अंतर्गत सौन्दर्य शास्त्र की चर्चा होने लगी थी। विंकलमैन पहला समीक्षक था जिसने कला और सौन्दर्य सम्बंधी विचारों द्वारा पाश्चात्य समीक्षा को प्रभावित किया।[5] ड्राइडन, जोनाथन, रिचर्डसन, चार्ल्स, लमोटे, आबेदूबो, डेनियल बैव, जैम्स हैरिस और जोजेफ स्पेंस आदि विद्वानों ने चित्रकला, कविता, संगीत, सौन्दर्य आदि विषयों पर महत्वपूर्ण रचनाएं प्रस्तुत कीं।

आधुनिक पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा में सौन्दर्य-बोध एक संश्लिष्ट इकाई के रूप में चर्चित है। सौन्दर्य बोध की क्रमागत परम्परा से ऊबकर नये विचार समीक्षा के प्रयोगात्मक चेतना के आधार पर भिन्न-भिन्न वादों में द्रष्टव्य हैं। 'कला कला के लिए' इस सिद्धान्त का सूत्रपात फ्रांस में हुआ। इगलैंड में व्हिस्लर ने इसका प्रचार किया, पेटर की समीक्षा से इसको बल मिला। आस्कर वाइल्ड आदि समीक्षकों ने पोषण किया।[6] क्लाइवबैल ने कहा कि सौन्दर्य की अनुभूति एक विशिष्ट अनुभूति होती है जो हमें कला कृतियों द्वारा प्राप्त होती है।[7] डा० ब्रैडले ने इस सिद्धान्त की व्याख्या "सौन्दर्यानुभूति स्वय साध्य है" कहकर की।[8] शास्त्रीय समीक्षकों के विरोध में प्रभाववादी समीक्षक जे० ई० स्पिन्गार्न का कथन सौन्दर्य बोध के निकट है। राबर्ट लिन्द और सर हेनरी न्यूबोल्ट का विचार है कि स्मृतिजन्य आकुलता सौन्दर्य के लिये हो सकती है, स्थायित्व के लिए हो सकती है, सौन्दर्य का प्रभाव शाश्वत है।[9]

सौन्दर्य शास्त्र के पृथक् अस्तित्व को सिद्ध करने का श्रेय इटैलियन समीक्षक क्रोचे को है जिसने सहजानुभूति की अभिव्यजना प्रतिपादित कर सौन्दर्यात्मक अथवा कलात्मक तथ्य से उसे अभिन्न स्वीकार किया। अभिव्यंजना को प्रतिष्ठित करने में

4. द पोएटिक्स, पृष्ठ 24।
5. द मेकिंग आफ लिटरेचर, पृष्ठ 163-73।
6. द मेकिंग आफ लिटरेचर, पृष्ठ 313।
7. आर्ट, पृष्ठ 49।
8. ए० सी० ब्रेडले : ऑक्सफोर्ड लेक्चर्स आन इंगलिश, पृष्ठ 5।
9. ऑन पोयट्री एण्ड द माडर्न मैन।

दार्शनिक कॉलरिज का भी योगदान है। परन्तु सौन्दर्य बोध का सहजानुभूति संवेदन क्रोचे ने कलाकार के अंतस की भावना से किया है।[10] रूप-सौन्दर्य के तथ्य को स्पष्ट करते हुए वह कहता है "यह सच है कि विषय वस्तु रूप में परिवर्तित हो सकती है किन्तु जब तक वह रूपान्तरित नहीं हो जाती उसमें निर्धारित गुण नहीं रहते। यह सौन्दर्यात्मक तत्व तभी बनता है जब कि यह सचमुच रूपान्तरित हो जाय।"[11] क्रोचे सौन्दर्यानुभूति की सम्प्रेषणीयता के विषय में मौन है।

उस सिद्धांत का प्रतिपादन टालस्टाय के मतानुसार हुआ है। उसने कहा है कि कला एक ऐसी क्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति अनुभूति प्राप्त करता है और दूसरे व्यक्ति के हृदय में उस अनुभूति का साधारणीकरण होता है।[12] भाव-प्रेषणीयता का यह सिद्धांत क्रोचे के सौन्दर्यवाद का पूरक है।

बीसवीं शताब्दी में समीक्षा और सौन्दर्य बोध के आयाम पाश्चात्य समीक्षकों के मतानुसार भिन्न होते गये हैं। टी० एस० इलियट ने रोमांसवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के विरोध में क्लासिसिज्म को अपनाकार उसे एक नया संदर्भ देने का प्रयत्न किया —"कविता में व्यक्ति की अभिव्यंजना नहीं, व्यक्तित्व का तिरोधान है।"[13] मनोविश्लेषणात्मक सौन्दर्य बोध के प्रवर्तक आई० ए० रिचर्ड्स का कथन है, "आधुनिक सौन्दर्य शास्त्र की यह मान्यता है कि सौन्दर्य बोध के समय मस्तिष्क में एक विशिष्ट प्रक्रिया होती है।"[14] कलाकृतिजनित सौन्दर्यानुभूति साधारण वस्तुओं तथा कृतियों से प्राप्त नहीं होती। रिचर्ड्स ने सौन्दर्य बोध और नैतिक मूल्यों का समन्वय मनोवैज्ञानिक मानववाद के आधार पर किया है. समीक्षा-शास्त्र का सम्बन्ध उसने विज्ञान से जोड़ा है, विज्ञान का सम्बंध बोध-शक्ति से और कविता का सम्बंध अभिरुचियों से बताया है।[15] साहित्य समीक्षा के अतिरिक्त फ्राइड, युंग, एडलर, गेसटाल्ट, विलियम जेम्स आदि के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों का समीक्षा और सौन्दर्य बोध में विशिष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

बीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य समीक्षा साहित्य और सौन्दर्य बोध का विवेचन विषयगत (आब्जैक्टिव) और विषयीगत (सबजैक्टिव) संदर्भ में हुआ है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक कॉडवेल ने सौन्दर्य पर विचार प्रकट किये हैं। उसने कहा कि सभी वस्तुओं से मनुष्य का सामान्य संबंध है, इसलिये सौन्दर्य मनुष्य में है, सौन्दर्य सामाजिक परिप्रेक्ष्य में एक वस्तुगत सत्ता है। मार्क्सवादी साहित्य में साहित्य समीक्षा का आधार

10. ऐस्थेटिक, पृष्ठ 9-11।
11. ऐस्थेटिक, पृष्ठ 15-16।
12. 'व्हाट इज आर्ट', पृष्ठ 6।
13. सेलेक्टेड ऐसेज, पृष्ठ 388।
14. प्रिन्सिपल्स आफ लिटरेरी क्रिटिसज्म, दूसरा अध्याय।
15. वही

आर्थिक व्यवस्था का स्वरूप है। विचारधारा और साहित्य का अंत:-सम्बंध ही सौन्दर्यबोध की एक संश्लिष्ट इकाई है।[16] प्रसिद्ध फ्रेंच नाटककार ज्यापाल सार्त्र ने अस्तित्ववाद और सौन्दर्यबोध के सन्दर्भ में वैयक्तिक निर्णय की आवश्यकता पर बल दिया। सौन्दर्यानुभूति को जीवन की अन्य अनुभूतियों से अलग नहीं किया जा सकता, सौन्दर्यानुभूति सत्य के समान विलक्षण है, वस्तु जगत् की सुन्दरता और असुन्दरता से उसका कोई सम्बंध नहीं है।[17]

हिन्दी समीक्षा दर्शन और सौन्दर्यबोध का इतिहास संस्कृत काव्यशास्त्र और पश्चिमी सौन्दर्यशास्त्र के समन्वयात्मक ढांचे का स्वरूप है जो मौलिक न होते हुए भी स्वच्छ है और विवेच्य विषय के साथ असम्बद्ध नहीं है। आधुनिक युग चेतना और हिन्दी समीक्षा के प्रवर्तन, संवर्धन तथा विकास काल को देखते हुए स्पष्ट होता है कि सौन्दर्यशास्त्र और काव्यानुभूति का दार्शनिक आधार विभिन्न वादों और सम्प्रदायों के रूप में पल्लवित है। हिन्दी में समीक्षा सिद्धातों की चर्चा के साथ साथ सौन्दर्यशास्त्र सम्बधित दो समस्यायें विशेष हैं। पहली यह कि साहित्यशास्त्र में सौन्दर्य शास्त्र की आवश्यकता पर क्यों बल दिया जाता है? इस समस्या का समाधान हिन्दी समीक्षकों ने सौंदर्यशास्त्र के व्यापक अर्थ को लेकर किया है। साहित्य कला जनित सौन्दर्य बोध को प्रकृति, मानव जीवन के साथ देखा है इसलिये साहित्यशास्त्र में सौन्दर्य शास्त्र की आवश्यकता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सौन्दर्य के इसी व्यापक भाव बोध के कारण सौन्दर्य के बाहर भीतर के भेद को व्यर्थ कहा है।[18]

सौन्दर्यमूलक स्वच्छंदतावादी समीक्षा में विवेच्य विषय छायावाद रहा है। सौन्दर्य बोध का गहरा साहचर्य 'छाया' शब्द विवेचन में प्रसाद जी ने स्पष्ट कर दिया है।[19] जिसमें छायावाद की विशेषताओं का सौष्ठवपूर्ण संगुफन है। डा० राम विलास शर्मा ने सौन्दर्य शास्त्र का विस्तार के साथ आकलन करते हुए कहा है कि सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता सामाजिक विकास से उसके सापेक्ष सम्बंध कला और साहित्य के रूपों के अनुसार उनकी विषय वस्तु की विविधता को ध्यान में रखकर ही हम सौन्दर्य शास्त्र का विवेचन कर सकते हैं।[20]

हिन्दी समीक्षा जगत में दूसरी समस्या सौन्दर्य शास्त्र के नाम की है। कला तथा साहित्य अपूर्ण को पूर्ण और असुन्दर को सुन्दर करके अपने भीतर समाहित कर लेता है। बाबू गुलाब राय ने सौन्दर्य की परिभाषा में यह स्पष्ट कर दिया है।[21] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्यसमीक्षा और सौन्दर्यबोध को व्यक्ति सापेक्ष

16. मार्क्स एण्ड एँगेल्स, पृष्ठ 9।
17. व्हाट इज लिटरेचर, पृष्ठ 13।
18. चिन्तामणि, पृष्ठ 170।
19. काव्य और कला तथा अन्य निवन्ध, पृष्ठ 125।
20. आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ 19-34
21. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ 99।

मानवतावादी दृष्टिकोण से देखा है।[22] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का सौन्दर्य संवेदन साहित्य समीक्षा में स्पष्ट है "काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है जो मनुष्य मात्र को स्वभावतः अनुरूप भावोच्छ्वास को सौंदर्य संवेदन उत्पन्न करता है। इसी सौंदर्य संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।"[23] श्री अज्ञेय मानते हैं कि रसास्वादन की प्रक्रिया में स्वीकृत मूल्यों या प्रतिमानों का महत्व होता है। सब मूल्यों का स्रोत मानव विवेक है। यदि यह कहना उचित है कि मूल्यों का स्रोत मानव विवेक है तो यह कहना भी ठीक है कि सौंदर्य बोध मूलतः बुद्धि का व्यापार है।[24]

भारतीय साहित्य शास्त्र और पश्चिमी सौंदर्य शास्त्र दोनों में कला और काव्य के सौंदर्य और आनन्द का समाकलन व्यष्टि एवं समष्टि को उनका आश्रय मान कर किया गया है। सौंदर्य की परिभाषा में भी इन्हीं पहलुओं का विवरण है —

1 — उत्पत्ति की दृष्टि से–कलाकार की अनुभूति का सहज उच्छलन सौंदर्यमय होता है।

2—स्वरूप की दृष्टि से–सौंदर्य एक संश्लिष्ट गुण है।

3—प्रभाव की दृष्टि से–सौंदर्य सामाजिक को तल्लीन कर देता है।

अंत में निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि साहित्य समीक्षा की गरिमा का अधिष्ठान सौंदर्य बोध है और सौंदर्य बोध का आधार रूप तत्त्व विवेचन में सापेक्षता, समता, संगति और संतुलन है। अस्तु, समीक्षा दर्शन इस तथ्य का प्रतिपादन करता है कि युग-चेतना और सौंदर्य संवेदन के विविध ऐतिहासिक स्वरूप हैं।

—हिन्दी विभाग
एन० आर० ई० सी० कालेज,
खुर्जा (उ० प्र०)

22. अशोक के फूल, पृष्ठ 179।
23. आधुनिक साहित्य, पृष्ठ 40
24. 'कल्पना' (मार्च 1961) में 'सौन्दर्य बोध और शिवत्व बोध', पृष्ठ 125।

"हम समाज की पहली तथा सबसे बड़ी सेवा यह कर सकते हैं कि हम अपनी देशी भाषाओं को पुनः अपनाएं, हिन्दी को उसके राष्ट्र-भाषा के पद पर फिर से प्रतिष्ठित करें और अपने समस्त प्रान्तीय कार्यों को अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओं में तथा राष्ट्रीय कामों को हिन्दी में करना शुरू करें। जब तक हमारे स्कूल तथा कालेज हमें देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा नहीं देने लगते, तब तक हमें चैन से नहीं बैठना चाहिए।"

—महात्मा गाँधी

सरिता प्रकाशन
मेरठ (उ० प्र०)

सौन्दर्यानुभूति

डा० सुरेन्द्र शर्मा 'पंकज'

पाश्चात्य काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में कलाजन्य सुखास्वाद का निरूपण 'सौन्दर्यानुभूति' के रूप में हुआ है। सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप की मीमांसा करने से पूर्व एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या सौन्दर्यानुभूति अपने शुद्ध और निरपेक्ष रूप में आस्वाद का विषय बन पाती है। एलोसिओ वाइवास का विचार है--"सौन्दर्यानुभूति एक प्रतिमानपरक निर्मिति है, इसलिए अपने सर्वोत्तम रूप में वह एक आदर्श लक्ष्य है, जिस तक सभी ग्राहक पहुँचने का प्रयास करते हैं, किन्तु जहां तक संभवतः या तो वे सभी नहीं पहुँचते या फिर कभी-कभी ही पहुँच पाते हैं।" संभवतः वाइवास की उपर्युक्त शंका का कारण यह है कि कलाकृति में निहित एवं उसके माध्यम से आलोकित होने वाले मूल्य और अर्थ अत्यन्त शीघ्र पूर्व-प्रतिष्ठित संस्कृति के भीतर संस्कार-बद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक कलाकृति अपने सृजन के तुरन्त उपरान्त संस्कृतिबद्ध मूल्यों एवं अर्थों से संश्लिष्ट हो जाती है। अतएव उसकी सौन्दर्यानुभूति का ग्रहण कभी भी शुद्ध और निरपेक्ष नहीं हो पाता। तब कलाकृति के सौन्दर्यानुभूति काल में ग्राह्य रूप और परोक्षतया संस्कृति को समृद्ध करने वाले रूप में अन्तर कर लेना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार वाइवास के अनुसार कलाकृति के शुद्ध और निरपेक्ष रूप का पृथक्करण आवश्यक है।

सौन्दर्यानुभूति के संदर्भ में एक प्रश्न यह उठाया जाता रहा है कि वह जीवन-सापेक्ष अनुभूति है या जीवनानुभवातीत कोई अलौकिक अनुभूति है। कलानुभूति को जीवनानुभूति से सर्वथा विलक्षण मानने वाले मनीषियों ने सौन्दर्यानुभूति की रूपवादी व्याख्याएं की हैं। कान्ट ने उसे सौन्दर्य की निरुद्देश्य सोद्देश्यता बताया। उसके अनुसार सौन्दर्य किसी वस्तु में प्रयोजनीयता का वह 'रूप' विशेष है जो किसी अन्य प्रयोजन के उपस्थापन से भिन्न रूप में ग्रहण किया जाए।[1] काण्ट की दृष्टि में काव्यानुभूति भावना के धरातल से भिन्न कल्पना और बोध वृत्ति के बीच एक सामरस्य की स्थिति है, जो कलाकृति के रूप, विन्यास या संस्थान पर आधारित होती है, उसके कथ्य या विषय पर नहीं। काण्ट के इस सौन्दर्यानुभूति-सिद्धान्त में भावतत्व का पूर्णतः बहिष्कार हो जाता है और उसका सम्बन्ध मात्र 'रूप' से रह जाता है।

क्लाइव बेल ने सौन्दर्यानुभूति की जीवनानुभूति से निरपेक्षता का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है। उसका कहना है कि "किसी भी कलाकृति में प्रतिदर्शक तत्व अहितकर हो या न हो, अप्रासंगिक अवश्य होता है क्योंकि कलाकृति के आस्वादन के लिए जीवनगत विचारों और प्रसंगों का ज्ञान, लौकिक अनुभूतियों से परिचय, यहाँ तक कि किसी रूप में भी लौकिक जीवन का संसर्ग अनिवार्य नहीं है।"[2] सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में जीवनानुभूत भावनाओं के बहिष्कार का यह प्रयास कदापि ग्राह्य नहीं हो सकता। वस्तुतः रूपवादी सिद्धान्त कला को निर्जीव और सौन्दर्य-सिद्धान्त को अपंग बना देता है।

जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति (कलानुभूति) के मध्य उत्पन्न की गई उक्त असम्बद्धता को प्रकृतवादी चिन्तकों ने मनोविज्ञान के प्रकाश में निरस्त करने का प्रयास किया। आई० ए० रिचर्ड्स ने कलात्मक अनुभव को जीवन के सामान्य अनुभवों से सम्बद्ध करते हुए कहा कि "काव्य जगत् का सत्य किसी भी अर्थ में शेष सृष्टि से भिन्न नहीं होता। उसके कोई अन्य लोक-भिन्न नियम या विशेषताएँ भी नहीं होतीं।" रिचर्ड्स ने यह भी माना कि 'सौन्दर्यानुभूति केवल साधारण अनुभवों का उत्तर-विकास और चारुतर सघटना है।' जानड्यूई ने यह माना कि 'कलाकृति साधारण जीवन में व्याप्त गुणों को मात्र तीव्रतर और उच्चतर करती है।' ड्यूई यह भी मानते हैं कि "सौन्दर्यबोध एक प्रकार की पुनर्रचना है जिसमें चेतना जीवन्त और प्रत्यग्र हो उठती है।"[3] "बोधग्रहण के लिए ग्राहक का अपने अनुभवों को रचनात्मक रूप देना आवश्यक है। मूल रचनाकार जिन अनुभवों से गुजरा है उनके संघटकों का ग्राहक की उस रचना में भी समावेश होना चाहिए।"[4] इस प्रकार ड्यूई यह मानते हैं कि "सौन्दर्यबोध एक प्रकार का सह-प्रयास है जिस में बोध के विषय के प्रति स्रष्टा के समान ग्राहक का प्रयत्न भी बोध के निमित्त अपेक्षित है। यह एक प्रकार की भावयित्री प्रतिभा है, रचनाकार की कारयित्री प्रतिभा के प्रत्युत्तर में जिसकी वर्तमानता अनिवार्य है। विषयी की संपूर्ण सत्ता एवं विषय के बीच निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया के बिना विषय का सम्यक् बोध नहीं होता और सौन्दर्य-बोध तो बिल्कुल नहीं।"[5]

विलियम के० विमसॉट ने कलानुभूति और जीवनानुभूति के सम्बन्धों पर प्रकाश डालने वाले सिद्धान्तों की परीक्षा करने के अनन्तर सौन्दर्यानुभूति के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं[6]—

(i) यह अनुभूति कुछ-कुछ प्रत्यक्ष संवेगों की अभिव्यंजना है—ऐसी अभिव्यंजना जिसका उद्देश्य उन संवेगों को उद्दीप्त करना न हो।

(ii) सौन्दर्यानुभूति जीवन-संवेगों का न तो तीव्र रूप है, न सघन रूप है, और न परिवर्तित रूप ही है। कुल मिलाकर सौन्दर्यानुभूति ग्राहक की भावात्मक प्रतिक्रिया पर किसी भी प्रकार का प्रत्यक्ष आक्रमण नहीं है।

(iii) सौन्दर्यानुभूति बहुत कुछ परोक्ष, मिश्र, सवादी और द्वन्द्वात्मक आदि सभी रूपों की एक तारतमिक अवस्थिति है।

सौन्दर्यानुभूति का प्रश्न सौन्दर्य के सत्तागत आधार और अनुभूतिकर्त्ता प्रमाता दोनों से ही सम्वद्ध है। अतः दोनों पक्षों को विचारपथ में रखकर सौन्दर्यानुभूति पर विचार करना चाहिए। परन्तु सौन्दर्य की तत्व-मीमांसा में गड़बड़ी विवेचना में एकांगी दृष्टिकोण से परिचालित होने के कारण हुई। सौन्दर्यतत्व की मीमांसा प्रायः दो दृष्टिकोणों से की गई है—एक प्रमाता की दृष्टि से और दूसरे प्रमेय या विभाव की दृष्टि से। प्रमाता-पक्ष को प्रधानता देकर चलने वाली चिन्ताधारा अध्यात्मवादी हो गई है और विभाव-पक्ष को प्रामुख्य देकर सौन्दर्य का चिन्तन करने वाली धारा प्रायः भौतिकवादी। अध्यात्मवादी दृष्टि से सौन्दर्य का स्वरूप निरुपित करने वाली परम्परा में प्लेटो, प्लोटिनस, शेफ्ट्सबरी, इचीसन, थियोडोर विशेर शेलिंग, शॉपेनहावर, हीगेल, सन्त आगस्टाइन, लेविक, शिलर, लोत्से, विक्टर काउसिन, ज्वायफ्रे, रीड, काण्ट, ह्यूम, रस्किन तथा सौन्दर्य को नित्य नवीन, शाश्वत आदि विशेषताओं से युक्त प्रतिपादित करने वाले कीट्स, माघ, बिहारी, प्रसाद आदि कवियों का नामोल्लेख किया जा सकता है। भौतिकवादी दृष्टि से सौन्दर्य-तत्व का निर्वचन करने वाले चिन्तकों में भारतीय औचित्यवादी भरत, आनन्दवर्धन, क्षेमेन्द्र, श्रीमद्रूप-गोस्वामी तथा पाश्चात्य औचित्यवादी एवं उपयोगितावादी अरस्तु, होगार्थ, दाइदेरो, बर्क, रिचार्ड प्राइस, क्रूसाज, डा० जेरार्ड, डा० सली, एलीसन जेफ्रे, बेन, पेरबफी, लार्ड केमे, विलियम शेन्सटन, अब्राहम ट्यूकर, रेनाल्ड्स, डार्विन, हरबर्ट स्पेन्सर आदि का नाम लिया जा सकता है।

वस्तुतः ये दोनों ही दृष्टिकोण अतिवाद और एकांगिता के दोष से मुक्त न होने के कारण सौन्दर्य-तत्व की वैज्ञानिक और शास्त्रीय व्याख्या करने में असमर्थ एवं असफल रहे हैं। यह सर्वमान्य और सर्वविदित तथ्य है कि सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया में आश्रय और आलम्बन अथवा प्रमाता और प्रमेय अथवा विषयी और विषय दोनों ही समान रूप से सक्रिय होते हैं। परन्तु उपर्युक्त चिन्तक अतिवाद और एकाङ्गिता के फेर में पडकर अपरपक्ष को पूर्णतया तिरस्कृत करके चले हैं। तथ्य यह है कि प्रमाता और प्रमेय दोनों को उचित महत्व देते हुए सौन्दर्य-तत्व-निरूपण विधेय है।

यदि प्रमाता और प्रमेय दोनों को दृष्टि में रखकर सौन्दर्याभूति का विश्लेषण किया जाए तो डा० फतहसिंह के अनुसार कहना होगा कि "सौन्दर्यानुभूति में मूलतः दो पक्ष होते हैं (1) प्रमेय (विषय) का आकर्षकत्व तथा (2) प्रमाता का आकर्षणीयत्व। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित अवस्थाओं में प्रकट होता है—सचेतन इन्द्रिय-सन्निकर्ष, अनुभूति, अभिव्यक्ति और अपनाने की चाह।"[7] "साधारणतया जिस वस्तु से मानव के मन में कोई सुखद अनुभूति होती है उसको वह सुन्दर कहता है। इसी सुखद अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति यद्यपि हृदय में तत्वतः एकरूप होती है, परन्तु माध्यम-भेद से यह कई प्रकार की मानी जाती है।"[8] माध्यम-भेद के आधार पर ही डा० फतहसिंह ने सौन्दर्य के चक्षुग्राह्य, श्रोतृग्राह्य,

जिह्वाग्राह्य, नासिकाग्राह्य और त्वचा-ग्राह्य भेद किए हैं और अन्त में इन समस्त भेदों को एक ही मानस-ग्राह्य सौन्दर्य का बाह्यरूप प्रतिपादित किया है। डा० फतहसिंह सौन्दर्यानुभूति में विभाव-पक्ष की अपेक्षा प्रमाता-पक्ष को अधिक महत्व देते हैं। उनके विचारानुसार प्रमाता को इन्द्रिय-सन्निकर्ष द्वारा सुम् नामक आनन्द या मोद की अनुभूति कराने की सामर्थ्य से सम्पन्न वस्तु ही सुन्दर कही जाएगी। इस प्रकार सुन्दर वस्तु की आनन्दप्रदायकता को ही सौन्दर्य कहना चाहिए।

सौन्दर्यानुभूति का मुख्य आधार प्रमाता या आश्रय है। प्रमाता की मानसिक विशेषताएँ ही वस्तुगत (विभावगत) सौन्दर्य की अनुभूति का निर्धारण करती हैं। सौन्दर्यानुभूति की सर्वप्रथम आवश्यकता है आश्रयगत सौन्दर्याभिरुचि और संवेदनशील आत्मा। उदात्त आत्मा के बिना केवल अभिरुचि व्यक्ति को सौन्दर्य की अनुभूति के लिये अभिप्रेरित नहीं कर सकती। सौन्दर्यानुभूति आश्रय के व्यक्तित्व, प्रकृति, चरित्र, मानसिक स्थिति और शारीरिक-मानसिक विकास की अवस्था पर भी निर्भर होती है। बहिर्मुखी व्यक्तित्व का स्वामी वस्तु के बाह्यरूप और उसके सामाजिक मूल्य को ही महत्व देता है। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व-प्रधान प्रमाता रूप के अन्तर्दर्शन के साथ-साथ उसके सौन्दर्य का भावन करने में भी सफल होता है। प्रमाता के जन्मजात संस्कार उसकी अनुभूति में वैयक्तिक वैचित्र्य की समुद्भावना करते हैं और सौन्दर्य-सम्बन्धी अर्जित सामाजिक संस्कारों के कारण अनुभूति को सार्वजनीन भावभूमि प्राप्त होती है। चारित्रिक रूढ़ आदर्शों की दृढ़ता के आश्रय में व्यक्ति अपनी निजी मान्यताओं के अनुसार सौन्दर्य को ग्रहण करता है, उसके लिए स्वच्छन्द सौन्दर्यानुभूति की संभावनाएँ कम हो जाती हैं। मानसिक स्थिति की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता से भी प्रमाता की सौन्दर्य के प्रति प्रतिक्रिया प्रभावित होती है। सौन्दर्यानुभूति के लिए मन की प्रसादपूर्ण स्थिति अनुकूल प्रतिक्रिया-विधायक होती है। संवेगात्मक प्रकृति के प्रमाता के लिए सौन्दर्य की निर्लिप्त और संयमित अनुभूति दुर्लभ होती है; सौन्दर्य उसके मन में सात्विक अनुभूति के स्थान पर वासना को उभारता है।

सौन्दर्यानुभूति की सीमाओं का नियमन प्रमाता के आयुजन्य सौन्दर्य-सम्बन्धी संस्कारों से भी होता है। शैशव काल का सरल और भोला मन सौन्दर्य के सरल रूप को ही ग्रहण कर सकता है, परन्तु यौवनावस्था का सौन्दर्य के प्रति पूर्ण विकसित संस्कारों से सम्पन्न मन कामनाओं से अभिभूत होता है, जबकि प्रौढ़ मन की सौन्दर्य के प्रति अनुभूति संयमित और सात्विक होती है, परन्तु वार्धक्यग्रस्त मन में इन्द्रियगत शिथिलता के साथ-साथ सौन्दर्यानुभूति के संस्कार भी दुर्बलताग्रस्त हो जाते हैं।

प्रमाता की दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति पर विचार करते हुए व्यक्ति के भाव-जगत् के साथ सौन्दर्यानुभूति का सम्बन्ध भी चर्चा की अपेक्षा रखता है। सुन्दर रूप के प्रथम दर्शन से ही उसके प्रति एक आकर्षण और उसको अपनाने की चाह (कामना या अभिलाषा) उत्पन्न होती है। यह चाह काम का ही रूप है। इस प्रकार सौन्दर्य

प्रमाता में काम की उत्पत्ति करता है। राधा और कृष्ण का प्रेम तो रूप-दर्शन के माध्यम से ही प्रस्फुटित होता है।

"मोहन बदन विलोकत अँखियनि उपजत है अनुराग ।"[9]

सौन्दर्य का आकर्षण ही क्रमशः विकसित होकर प्रेम में परिणत हो जाता है—

"सौन्दर्य पलक-प्याले का अब प्रेम बना जीवन में ।"[10]

किन्तु सौन्दर्यानुभूति वस्तु पर आत्मा के प्रक्षेपण से ही होती है, अतएव सौन्दर्यानुभूति और प्रेम दोनों आत्मस्थ होकर संयुक्त हो जाते हैं—

"O man ! you yourself make all objects attractive by your look. Looking at it with those eyes, you yourself shed your lustre upon the subject and then you fall in love with it." [11]

आत्मा का मंगलमय प्रकाश पड़ने पर वस्तु का सौन्दर्य भी निष्पाप, पवित्र, सात्विक और वासना रहित हो उठता है। महाकवि कालिदास ने सौन्दर्य के इसी रूप की उपासना अपने समस्त काव्य में की है। उनकी समस्त काव्य-साधना सौन्दर्य की सात्विक विभूति की समाराधना है—

"यदुच्यते पार्वति ! पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः ।
तथाहि ते शीलमुदारदर्शने ! तपस्विनामप्युपदेशतां गतम् ॥"[12]
"तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ॥"[13]

दार्शनिकों और मनोवैज्ञानिकों के विचारानुसार मन में काम के मूलभूत अस्तित्व के बिना सौन्दर्यबोध नहीं होता।[14] काम का अनुदात्त रूप वासना होता है तो उदात्त रूप में उसी को प्रेम की संज्ञा दी जाती है। सौन्दर्यानुभूति का वैध सम्बन्ध केवल प्रेम से है। एक ओर सौन्दर्य के प्रति आकर्षण उदात्त रूप होकर प्रेम में परिणति प्राप्त करता है तो दूसरी ओर "प्रेम की अनुभूति में आलम्बन का सौन्दर्य कुछ दूसरा ही हो जाता है। प्रेम में सौन्दर्य के ऐसे नए पहलू दिखाई देते हैं जो उसके अभाव में कभी अनुभूत नहीं हो सकते। प्रेम की प्राप्ति से दृष्टि आनन्दमयी और निर्मल हो जाती है, जो बातें पहले नहीं सूझती थीं वे सूझने लगती हैं। चारों ओर सौन्दर्य का विकास दिखाई पड़ने लगता है।"[15] विल ड्यरान्त के विचारानुसार कोई वस्तु सुन्दर इसलिए होती है कि व्यक्ति के मन में उसकी अभिलाषा जाग उठती है।[16] "प्रेम सौन्दर्य की माता है, उसका शिशु नहीं। मानवीय प्रारंभिक सौन्दर्य का मूल उद्गम यही प्रेम है।"[17] डा. बी. एल. आत्रेय केवल मानवीय ही नहीं, समस्त सौन्दर्य का मूल उत्स वासनात्मक प्रेम को मानते हैं।[18]

प्रेम में अभिलाषा की वृत्ति ही अपूर्व सौन्दर्य का विधान करती है। यह अभिलाषा या कामना मानवीय रूप-सौन्दर्य के प्रति अधिक तीव्र होती है।[19] इसीलिए मानवीय-सौन्दर्य-दर्शन प्रकृति-सौन्दर्य-दर्शन की भाँति निष्काम नहीं हो पाता। सौन्दर्य

की कामना प्रथमतः वासना को उत्तेजित करती है और पुनः उसकी स्वार्थमय प्राप्ति—संपूर्ण प्राप्ति—की चाह उत्पन्न करती है।[20] सौन्दर्य पर यह एकाधिकार की भावना ईर्ष्या की भावना को भी पैदा करती है।[21]

सौन्दर्यानुभूति का अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अन्य भावनाओं के साथ भी होता है। जब मानव-मन सौन्दर्यानुभूति में आचूड़ निमग्न होता है तब वह अन्य अनेक भावनाओं से भी सुखानुभूति ही संचित करता है, तात्पर्य, अन्य अनेक भाव भी संचारी रूप में आकर सौन्दर्य की सुखद अनुभूति की प्रवृद्धि में ही योग देते हैं।

प्रमाता के मन में सौन्दर्यानुभूति को प्रगाढ़ करने में वस्तु या विभाव के साथ उसके देश-कालगत सम्बन्धों का भी हाथ होता है। वस्तु के साथ प्रमाता का कालव्यापी साहचर्य सम्बन्ध रागात्मकता को प्रगाढ़ता और प्रेम को दृढ़ आधार भूमि प्रदान करता है। इसी प्रकार स्थानगत बाह्य परिवेश की अनुकूलता से भी सौन्दर्यानुभूति में और प्रगाढ़ता आती है। देश-कालगत प्रभाव के समान ही सौन्दर्यानुभूति में प्रमाता के मन की सन्नद्धता और भावात्मक गति की अनुकूलता भी आवश्यक है। शान्त, निश्चित, निश्चल, स्तब्ध और रंगीन अन्तर्बाह्य वातावरण में सौन्दर्यानुभूति प्रगाढ़तम हो उठती है। अन्तर्बाह्य प्रतिकूल परिस्थितियों और परिवेश को सौन्दर्यानुभूति के विघ्न कहना चाहिए।

सौन्दर्यानुभूति में प्रमाता और प्रमेय में सन्तुलित अन्तराल की भी आवश्यकता है। यदि वस्तु-रूप के सम्यक् दर्शन के लिए निकटता आवश्यक है, तो यह भी आवश्यक है कि यह निकटता इतनी अधिक न हो जाये कि रूप की रहस्यमयता को विनष्ट करके उसके प्रति अनाकर्षण ही पैदा करदे। "ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई"[22] में निकटता का अभिप्राय स्थानिक निकटता से नहीं, मानसिक अभिरुचि की सन्निकटता से है। लज्जा, संकोच, आवरण आदि की उपयोगिता सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के स्थायित्व को बनाये रखने में ही होती है। इसीलिए अनाकर्षण के प्रवारण के लिए निकटता को निषिद्ध करने की विधि का अनुमोदन शास्त्रकारों द्वारा किया गया है। सौन्दर्य की रहस्यमयता ही उसके प्रति आकर्षण को उत्पन्न करती है।[23] प्रमाता और प्रमेय के बीच इस सन्तुलित दूरी को ही मनोवैज्ञानिक अन्तराल कहा जाता है। प्रत्येक सुन्दर दृश्य का चरम आनन्द प्राप्त करने के लिए यह आनुपातिक अन्तराल परमावश्यक है। प्रसाद जी ने सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्त करने के लिए उसे 'दूर बजने वाली वंशी' बताया है।[24]

सौन्दर्यानुभूति के स्वरूप-निर्देश के प्रसंग में कुछ विचारक जो उसे जीवनानुभूति से अभिन्न मानते हैं और कुछ उसमें एकान्ततः आध्यात्मिकता का आरोप करते हैं—ये दोनों ही विचार अतिवादी हैं। वस्तुतः सौन्दर्यानुभूति और उसकी प्रक्रिया दोनों ही अपने आप में विशिष्ट हैं। जिस प्रकार रसानुभूति लौकिक और अलौकिक से परे स्वयं में एक ही विशिष्ट प्रकार की विलक्षण आनन्दानुभूति है, उसी प्रकार

सौन्दर्य की अनुभूति भी आनन्दात्मक और लौकिक, ऐन्द्रिय और अन्य मानसिक अनुभूतियों से विलक्षण है। यही उसकी अलौकिकता है। ऐन्द्रिय और मानसिक संवेदनों में उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है, परन्तु कल्पना के योग से सौन्दर्यानुभूति का धरातल सूक्ष्म और निर्लिप्त प्रतीत होता है, अत: सौन्दर्य का अन्तर्दर्शन उसमें आध्यात्मिकता की एक झलक उत्पन्न कर जाता है, एक आभास दे जाता है। यह अनुभूति आध्यात्मिकता का आभास मात्र होती है, आध्यात्मिक नहीं। इसी अर्थ में वह लोक-विलक्षण होती है।

सौन्दर्यानुभूति की प्रक्रिया में मन और इन्द्रियों की सामंजस्यपूर्ण क्रियाशीलता होती है। सौन्दर्यानुभूति की दशा में मन की सम्पूर्ण शक्तियां—बौद्धिक, भावात्मक और कल्पनात्मक—एकोन्मुख होती हैं, उनकी प्रसार-दिशाएँ अविरोधी होती हैं। आनन्द चाहे लौकिक हो या आध्यात्मिक, उसका रहस्य इसी समरसता में निहित होता है जिसकी ओर प्रसाद जी ने कामायनी के अन्त में संकेत किया है[25] और जिसे सौन्दर्य शास्त्र में विभावन (Contemplation) कहते हैं, जो मन की विचारात्मक, संवेगात्मक और कल्पनाजन्य लौकिक प्रकृति से भिन्न होता है। इस स्थिति में आनन्द सहज, संयमित और सुसंस्कृत होता है और मन की दशा निरुद्विग्न, शान्त, अचंचल, सात्विक और उदात्त के धरातल पर पहुँची हुई तथा लौकिक भावनाओं से अस्पृष्ट होती है।[26]

काण्ट ने सौन्दर्यानुभूति की चार विशेषताओं की ओर संकेत किया है[27]—

1. सार्वभौमिक आनन्दानुभूति, 2. निर्लिप्तता या ताटस्थ्य (सम्पूर्ण प्रकार के मूल्यों से) 3. उद्देश्यहीन सोद्देश्यता और 4. ऐन्द्रिय और मानसिक स्वच्छन्द क्रियाशीलता तथा सामञ्जस्यजनित अनुभूति की एकोन्मुखता, चैतन्यता और पूर्णता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति के विकास की छ: स्थितियाँ हैं—(1) रूप के प्रति आकर्षण, (2) रूप के अन्तर्दर्शन का कुतूहल या जिज्ञासा[28] (3) विस्मयविमुग्धता, (4) निरन्तर रूप-दर्शन की लालसा और अतृप्ति[29] (5) स्वप्न दर्शन और तन्मयता और (6) आनन्दानुभूति।

सौन्दर्यानुभूति की विशिष्टता उसकी रहस्यमयता में ही निहित रहती है। विभाव के सौन्दर्य का आलोक प्रमाता के मन पर प्रक्षिप्त होकर उसे विस्मयविमूढ़ बना देता है। वह अलपक रूप को देखता रह जाता है, उसके चक्षु रूप के मर्म तक पहुंच नहीं पाते :

> 'सत्य ही रहता नहीं यह ज्ञान
> तुम कविता, कुसुम या कामिनी हो।
> आरती की ज्योति को भुज में समेटे
> मैं तुम्हारी ओर अपलक देखता एकान्त मन से
> रूप के उद्गम अगम का भेद गुनता हूं।'[30]

इन्द्रियाँ ही नहीं, इन्द्रिय-चेतना भी उस रहस्य को भेदने में असमर्थ हो जाती है :

'कौशल यह कोमल कितना है, सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या ?
चेतना इन्द्रियों की मेरी, मेरी ही हार बनेगी क्या ?'[31]

सौन्दर्य के रहस्यमय रूप की प्रतिक्रिया भी रहस्यमय ही होती है। संपूर्ण अन्तर्बाह्य परिवेश सौन्दर्य के अपने रँगों की आभा से आलोक-चंचल दीख पड़ता हैं ;

"हाँ समस्त आकाश दीखता भरा शान्त सुषमा से,
चमक रहा चन्द्रमा शुद्ध शीतल निष्पाप हृदय-सा,
विस्मृतियाँ निस्तल समाधि से बाहर निकल रही हैं,
लगता है चन्द्रिका आज सपने में घूम रही है।"[32]

सौन्दर्यानुभूति में रहस्यमयता के अभाव में उसमें नित्य नूतनता की संभावनाएँ समाप्त हो जाती हैं। इसी रहस्यमयता के कारण सौन्दर्यानुभूति अलौकिक और विलक्षण कही जाती है। सौन्दर्यानुभूति के क्षणों में प्रमाता के मनोव्यापार की गति अन्तर्मुखी हो जाती है। दार्शनिकों के मत में यह दशा समाधि की सी दशा है जिसमें लौकिक और ऐन्द्रिय ज्ञान निरस्त हो जाता है।

ग्राहकता की दृष्टि से सौन्दर्यानुभूति के तीन धरातल हो सकते हैं—ऐन्द्रिय, मानसिक और आध्यात्मिक। वस्तु के बाह्य रूप की अनुभूति ऐन्द्रिय होती है। उसमें तन्मयता के साथ अतृप्ति की आकुलता भी बनी रहती है।[33] मानसिक सौन्दर्यानुभूति भौतिकता के तल से उठकर मधुर हो जाती है और मन में कोमल भावनाओं का संचार होने लगता है।[34] आध्यात्मिक सौन्दर्यानुभूति द्वन्द्वों से परे की स्थिति है, जब रूप-सौन्दर्य आध्यात्मिक प्रतीत होता है। उस स्थिति में मन सामरस्य प्राप्त कर लेता है। सुन्दर-असुन्दर का द्वन्द्व समाप्त हो जाता है। सृष्टि के कण-कण में चेतन-सौन्दर्य का आभास मिलता है और प्रमाता उसी में एकात्म हो जाता है।[35]

प्रतिभाशाली साहित्यकार अपने रचना-कौशल से प्रमाता को सौन्दर्यानुभूति के मानसिक और आध्यात्मिक धरातलों पर ले जाते हैं। क्योंकि साहित्य में रूप-चित्रण का उद्देश्य ऐन्द्रिय उत्तेजना नहीं होता, मानसिक आनन्दानुभूति कराना होता है। छायावादी कलाकार विशेषतः प्रसाद और निराला अपनी दार्शनिक दृष्टियों से प्रेरणा ग्रहण कर प्रमाता की सौन्दर्यानुभूति को मानसिक धरातल पर ले जाने में ही समर्थ नहीं हुए हैं, वरन् उसकी सूक्ष्म और सात्विक अभिव्यंजना में भी सफल हुए हैं।

सन्दर्भ

1. The form of purposiveness in an object so far as it is perceived apart from the presentation of purpose.
—Critique of Judgment.

2. "The representative element in a work of art may or may not be harmful; always it is irrelevant. For, to appreciate a work of art we need bring with us nothing from life, no knowledge of its ideas and affairs, no familiarity with its emotions."—Art, P. 25
3. Art As Experience. P. 53.
4. Ibid, p. 54
5. Ibid, p. 54
6. Literary Criticism : A Short History. p. 740-41.
7. डा० फतह सिंह, भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 2।
8. वही, पृ० 1
9. सूरसागर, सं० नन्द दुलारे वाजपेयी, पद संख्या 2395
10. जयशंकरप्रसाद, आंसू, पृ० 32
11. Swami Ram Tirtha ; Heart of Rama, p. 135.
12. कालिदास, कुमार संभव, 5/36
13. कालिदास, कुमार संभव, 5/1
14. 'The capacity to love gives our contemplation that glow without which it might often fail to manifest beauty; and the whole sentimental side of our aesthetic sensibility without which it would be perceptive and mathematical rather than aesthetic is due to out sexual organisation remotely stirred' —George Santayana: The Sense of Beauty. p. 59.
15. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल: जायसी ग्रन्थावली की भूमिका, पृ० 87.
16. 'A thing is beautiful, first of all, because it is desired.…So we desired nothing originally because it is beautiful, but we consider it beautiful because we desire it'
—Will Durant: Mansions of Philosophy, p. 286
17. Love then is the mother of beauty and not its child. It is the sole origin of that primary beauty which is of persons and not of things'. Ibid, p. 289
18. 'Beauty, therefore, whether of person, of things, of nature, of art is child of love which originates in sexual impulse' —Dr. B. L. Atreya, B. H. U. Journal (Silver Jubilee number 1942, p. 51
19. अभिलाषा अपने यौवन में उठती उस सुख के स्वागत को।
जीवन-भर के बल वैभव से सत्कृत करती दूरागत को ।।—प्रसाद, कामायनी, पृ० 99
20. कहा मनु ने, तुम्हें देखा अतिथि ! कितनी बार,
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार,
पूर्व जन्म कहूं कि था स्पृहणीय मधुर अतीत,
गूंजते जब मदिर घन में वासना के गीत।
—जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ 89।

21. (i) विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान
सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान।

—वही, पृष्ठ 85

(ii) यह जलन नहीं सह सकता मैं, चाहिए मुझे मेरा ममत्व।
इस पंचभूत की रचना में, मैं रमण करूं बन एक तत्व॥

—वही, पृष्ठ 153

22. मतिराम, हिन्दी साहित्य का इतिहास: रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 245
23. सौन्दर्यमयी चंचल कृतियाँ बनकर रहस्य हैं नाच रही,
मेरी आंखों को रोक वहीं, आगे बढ़ने में जाँच रही,
मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह सब क्या छाया उलझन है ?
सुन्दरता के इस परदे में, क्या अन्य धरा कोई धन है ?

—जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ 68

24. 'उठती है किरनों के ऊपर, कोमल किसलय के छाजन-सी,
स्वर का मधु निस्वन रंध्रों में, जैसे कुछ दूर बजे वंशी।'

—जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ 68

25. समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।

—वही, पृष्ठ 294

26. 'In aesthetic enjoyment our capacities of feeling attain their fullest and most perfect development. Yet as its dependence on a quiet attitude of contemplation might tell us, aesthetic experience is characterised by a certain degree of calmness and moderation'

—The Encyclopaedia Britanica, Vol. 2. p. 27

27. Bernard Bosanquet : A History of Aesthetic, p. 263-65
28. '(i) जब से हम तुम मिले रूप के अगम फुल्ल कानन में,
अनिमिष मेरी दृष्टि किसी विस्मय में डूब गई है।'

—रामधारी सिंह दिनकर ; उर्वशी, पृष्ठ 41

(ii) 'चांदनी सदृश खुल जाय कहीं
अवगुंठन आज सँवरता सा।' —जयशंकर प्रसाद; कामायनी, पृष्ठ 68

(iii) 'मैं देख रहा हूँ जो कुछ वह सब क्या छाया उलझन है,
सुन्दरता के इस परदे में, क्या अन्य धरा कोई धन है ?'

—वही, पृष्ठ 68

29 (i) 'प्यासी मछली सी आंखें थीं विकल रूप के जल में।'

—जयशंकर प्रसाद; आँसू, पृष्ठ 10

(ii) इत लोभी उत रूप परम निधि कोउ न रहत मिति मानि।

—सूरदास, सूरसागर (सं० नन्ददुलारे वाजपेयी) पद सं० 2470

30. रामधारी सिंह दिनकर; उर्वशी, पृष्ठ 50।
31. जयशंकर प्रसाद, कामायनी, पृष्ठ 69।

32. रामधारी सिंह दिनकर; उर्वशी, पृष्ठ 63

33. "..........जहाँ भी रहो, भूमि या नभ में,
वक्षस्थल पर इसी भांति मेरा कपोल रहने दो।
कसे रहो बस, इसी भांति उर-पीडक आलिंगन में,
और जलाते रहो अधरपुट को कठोर चुम्बन से।

—रामधारी सिंह दिनकर; उर्वशी, पृष्ठ 62

34. 'रोम रोम में वृक्ष तरंगित फेनिल हरियाली पर,
चढ़ी हुई आकाश ओर मैं कहाँ उठी जाती हूँ ?'
'देह डूबने चली अतल मन के अकूल सागर में,
किरणों फेंक अरूप रूप को ऊपर खींच रहा है।'
'करते नहीं स्पर्श क्यों पगतल मृत्ति और प्रस्तर का ?
सघन उष्ण वह वायु कहाँ है ? हम इस समय कहाँ हैं ?'
'छूट गई धरती नीचे, आभा की झंकारों पर,
चढे हुए हम देह छोड़कर मन में पहुँच रहे हैं।'

— रामधारी सिंह दिनकर; उर्वशी, पृष्ठ 70

35. समरस थे जड़ या चेतन,
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती,
आनन्द अखण्ड घना था।

—जयशंकर प्रसाद; कामायनी, पृष्ठ 294।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
के० के० जैन डिग्री कालेज, खतौली
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

"यदि भारतीय लोग राजनीति, व्यापार या कला में एक रहना चाहते हैं तो हिन्दी ही वह भाषा है जो समस्त भारतीयों का ध्यान आकर्षित कर सकती है, चाहे वे लोग अपने प्रदेश में कोई भी भाषा बोलते हों। निष्कर्ष यह है कि हिन्दी का गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना भारत के सभी लोगों के लिए शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए।"

—चक्रवर्ती राजगोपालाचारी

भारत भारती प्रकाशन

मेरठ (उ० प्र०)

सौन्दर्य शास्त्र और शैली-विज्ञान
(कुछ विचार-सूत्र)

डा० प्रभाकर माचवे

न च रीतीनाम् उत्तमाधममाध्यम भेदेन वैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्

—कुन्तक

'इश्क भी हो हिजाब में, हुस्न भी हो हिजाब में
या तो खुद आशकार हो या मुझे आशकार कर।

—इक़बाल

"शोएन जु लेबेन इस्ट वाह्रे कुन्स्ट
कुन्स्ट इम लेबेन डास शोएने वाह्रे
लेबेन डेर कुन्स्ट डास वाह्रे शोएने
वाह्रे स लेबेन डाह शोएने कुन्स्ट"

—शिलर

अनुवाद : सच्ची कला सौन्दर्य को जीना है
जीवन में कला सुन्दर सत्य है
कला का जीवन सच्चा सौन्दर्य है
सच्चा जीवन ही सुन्दर कला है।

एक वर्ग उन विद्वान समीक्षकों का है जो मानते हैं कि सौन्दर्य का कोई शास्त्र नहीं हो सकता। राजशेखर ने कहा था—"यथा काव्यं च काव्यं च। शास्त्रं च शास्त्रं च।" दूसरी ओर वे आधुनिक समीक्षक हैं कि जो अपरिभाषेय सौन्दर्य, शिव, सत्य जैसी भाववाचक संज्ञाओं को 'रीति', 'शैली', 'संरचना' आदि सांचों में बाँधना चाहते हैं। इस प्रपत्र में हम भारतीय और पाश्चात्य कलाकारों, सौन्दर्य-निर्माताओं और समीक्षकों के साक्ष्य से यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि सत्य इस-या-उस अतिवादी स्थापना में नहीं है।

हमारे यहां सौन्दर्य-शास्त्र जैसा कोई शब्द नहीं था, यद्यपि काव्य-शास्त्र, साहित्य शास्त्र, शिल्प शास्त्र, नाट्य शास्त्र जैसे ग्रन्थ हैं, और अभिनय दर्पण, मानसार, संगीत रत्नाकर जैसे ग्रन्थ हैं। अधिकतर सोदाहरण मीमांसा या लक्षण-टीका जैसी कृतियां अधिक हैं। पश्चिम में गत शताब्दी में हर मानवीय प्रयत्न या प्रक्रिया को

व्यवस्थित, शास्त्रीय विज्ञान-सम्मत रूप देने का प्रयास किया गया। मानवीय जब प्रवृत्तियां, मनोव्यापार और समाज-संगठन भी इस व्यवस्थापना से नहीं छूटे। ललित कलाएं इसी में आती हैं। मनुष्य प्राणी मकान बनाता है, उसे सुन्दर रूप देता है—बया पक्षी के घोसले में वह झुगनूं लटकाती है, या मधु मक्खी इतना सुन्दर षट्कोणाकृति छत्ता बनाती है। यह सब क्या प्राण-रक्षा और जीवनी-शक्ति को परम्परित रखने के ही रूप हैं? पशुओं के मन का विचार अब किया जाने लगा है। और किसी मसखरे ने बन्दर के बनाए चित्र 'आधुनिक चित्रकला' के नमूने की तरह प्रकाशित किये। यहां पशु और मानव की तुलना में जाने का समय नहीं है। पर भौतिकवादी हर कला का आधार श्रम-परिहार या यौन-प्रदर्शनप्रियता मानते हैं, जैसे जार्ज टौमसन 'पोएट्री एंड मार्क्सिज़्म' में या डी० एच० लारेंस अपने निबन्ध 'बर्थ आफ म्यूजिक' में। भारतीय कला-दृष्टि में—

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला

हमारे यहाँ अभिनवगुप्तादि काश्मीर शैव दार्शनिकों ने पारमार्थिक-व्यावहारिक दो सत्ताओं में सौन्दर्य, कला, सिद्धि आदि को विभाजित करके सुविधा-नुसार भौतिक-नैतिक दो आयामों में सारा विचार समेट लिया। तांत्रिकों ने दोनों के बीच कुछ द्वन्द्वात्मक स्थिति मानी। पश्चिम में डार्विन, मार्क्स, नीत्शे, फ्रायड के साथ-साथ सुन्दर और असुन्दर के बीच सांघातिक सम्बन्धों का विचार आरम्भ हुआ। कुछ कला-समीक्षक इस पश्चिमीय और भारतीय कला-चिन्तन में एक प्रकार का समतोल (बैलेन्स) देखने लगे। यथा आनन्द कुमारस्वामी। पश्चिम में भी कवि और कलाकार 'समग्र' दृष्टि से, 'गेश्टाल्ट' से प्रभावित हुए। इमर्सन की एक कविता है—'हर एक और सब':

मैंने सोचा कि चिड़िया कितना स्वर्गीय गान गाती है
सवेरे-सवेरे उतनी ऊँची डाल पर
मैं चिड़िया को पकड़ कर घर लाया, उस शाम को
अपने घोंसले में वह गाती है, पर मुझे आनन्द नहीं होता
क्योंकि मैं अपने साथ सिर्फ चिड़िया लाया था, वह नदी और आकाश कहां थे?
चिड़िया तो मेरे कानों में गाती थी, नदी और आकाश मेरी आँखों में गाते थे।

प्रत्येक कला का मर्मज्ञ अपनी सौन्दर्य-सृजन प्रक्रिया को ही सर्वश्रेष्ठ मानता आ रहा है, और उसमें सब कलाओं का निचोड़ देखता है। पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में कविता को 'चित्र-राग' कहा। जर्मन संगीतज्ञ वाग्नेर संगीत में नाटक, कविता, अभिनय सबको एकाकार मानता था। ग्रिवस ने तो यहां तक कहा है कि

"हर कलाकृति एक जादुई सीप की तरह होती है, जिसे काल के तट पर सौन्दर्य के महासागर ने फेंक दिया है।" हम उस सीप को उठाकर कान से लगा लें तो उसके द्वारा कलाकार के जीवन और चरित्र का सारा सागर-संगीत हमें सुनाई देता है। इस संगीत-श्रवण में हम अपने 'स्व' का भी संगीत साथ-साथ सुनते हैं।

शैली का प्रश्न संगीत जैसी भाववाचक कला में अधिक उठता है। हमारे यहां मार्गी, देशी कहकर शास्त्रीय या लोक-संगीत का विभाजन आचार्यों ने किया। पर भातखण्डे और पलुस्कर से पहले, यानी हमारा संगीत नोटेशन-निबद्ध होकर आँखों के सामने प्रत्यक्ष, स्पष्ट नहीं हुआ तब तक, उसमें हर गायक को स्वतन्त्रता थी कि वह अपनी शैली—'मैं ने' 'मैं' शैली अपनाई (निराला) की तरह अपनाये। एक ही राग को अलग अलग उस्ताद अलग-अलग ढंग से अदा करते आ रहे हैं। यानी बन्दिश वही, पर अलापदारी अलग-अलग। दक्षिण भारतीय संगीत में जहां 'कृतियाँ' व बोल-ताल आदि सुनिश्चित होते हैं, वहां भी प्रत्येक दीक्षितार की व्यक्तित्वप्रधान रीति अलग-अलग होती ही है। सितार वही है, पर रवि शंकर रविशंकर है। इसी अर्थ में सैपिर ने भाषा के लिए कहा था "शब्द केवल शब्द ही होते हैं" (वर्ड्स आर ओनली वर्ड्स।

शास्त्रीय संगीत की परम्परा में भारत में बहुत कम प्रयोगशीलता देखी गई। कुमार गन्धर्व का 'अपूर्व राग-विलास' या उनसे पहले रवीन्द्रनाथ का 'रवीन्द्र संगीत' या पूर्वी-पश्चिमी संगीत को मिलाने का प्रयत्न छोड़ दें तो संगीत के क्षेत्र में रूढ़िवादिता बहुत अधिक है। क्या उसके पठन-पाठन में, क्या उसकी समीक्षा में। धीरे-धीरे दरबारी युग का संगीत केवल गलाकारी बनकर रह गया। जैसे रीतिकालीन हिन्दी कविता लम्बे समय तक अनेक कवियों के रूप में चर्वित-चर्वण करती रही। ऐसी रीतिबद्ध कविता उत्तरकालीन संस्कृत से उत्तर भारत की ब्रज अवधी में बहुत चली। भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य में इतना बड़ा 'रीतिकालीन काव्य' कहीं नहीं है। इसका एक कारण फारसी-उर्दू की परम्परा भी है जहां 'कुछ ख्वाब है, कुछ असल है, कुछ तर्जे-अदा है' में 'तर्जे-अदा' पर ज्यादह जोर था। जब उर्दू कविता के बवजन 'हरिऔध' ने हिन्दी में 'चोखे चौपदे' लिखे तो वे मुहावरों के पद्यबद्ध उदाहरण बन गए, संस्कृतमयी शैली में 'रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका रूपेन्दु बिम्बानना' था ही। पंडित कवि इस प्रकार से 'कठिन काव्य के प्रेत' बनने लगे।

पर संगीत को जब आधुनिक माध्यमों का सामना करना पड़ा, रेकार्डिंग, रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन, वे सब प्राचीन काल-विशेष के बन्धन (अमुक समय में अमुक राग गाया जाएगा) या वे अनन्त समय तक चलने वाले रतजगे जैसे जलसे आपसे आप सीमाबद्ध होते गये। शैलियां भी बदलीं। कम से कम समय में अधिक से अधिक चमत्कार पैदा किया जाने लगा। जैसे तीन मिनिट का हर सिनेमाई गाना। इस जनतांत्रिकीकरण में सुरुचि-कुरुचि गड्ड-मड्ड हो गई, और जनता को जो

अधिक से अधिक गुदगुदाये, फुसलाये, नजर बांध रखे वही 'कला' हो गई। जैसे जासूसी, चटपटे, इश्किया जेबी उपन्यास। व्यावसायीकरण की इस बाढ़ में "शुद्ध कला के पारखी। सोचे हैं उस पार की॥ हाथी घोड़ा पालकी" जैसी कविता में रामविलास शर्मा ने 'तार सप्तक' में व्यंग लिखा।

तुक टूटी तो
सिर झुकते थे,

तुक जुड़ती
मुसका जाते थे।
जब जीवन सम्मुख आता–
बस,
उसे बेतुका बतलाते थे! (निराला)

जो बात संगीत, नृत्य आदि प्रस्तुति प्रधान कलाओं की है, वही माध्यम भिन्न होने पर भी दृश्य कलाओं के बारे में सच है। शिल्प, स्थापत्य, चित्र आदि कलाओं में शैली का यह अन्तर और भी स्थूल कारणों से स्पष्ट है। जैसा माध्यम, वैसा स्थापत्य। चण्डीगढ़ साक्षी है। फ्रैंक लाइड राइट ने इस क्षेत्र में अमेरिका में बहुत प्रयोग किये। शिल्प को फ्रांस के रोदाँ ने और बाद में अनेक पश्चिमी प्रयोगवादियों ने, इंगलैंड के हेनरी मूर, या अमेरिका के आर्प आदि ने पूरी तरह से बदल दिया। हमारे यहां शिल्प शास्त्र के इतिहास और समीक्षा पर बहुत कम देशी विद्वानों ने लिखा है। केवल ऐतिहासिक विवेचन से काम नहीं चलता: गुप्त शैली, राष्ट्रकूट और काकतीय शैली और ऐसी अनेक शब्दावलियां हैवेल, फर्गुसन, स्टेल्ला क्रामरीश ने दी। पर आधुनिक शिलपकला में शैली-विचार पर कम पुस्तकें हैं। शैलीकार भी कम हैं।

आधुनिक चित्रकला पर, उस परिमाण में अधिक काम हुआ है। एक धारा पूर्वोन्मुखी अवनींद्रनाथ ठाकुर की, दूसरी पश्चिमोन्मुखी राजा रवि वर्मा वाली। तीसरी अमृता शेरगिल ने दी। बाद में प्रगतिशील कलाकार आये, प्रयोगशील कलाकार आये। अरूपवादी आये। और कई रूपवादी अरूपवादी बन गये। कई अरूपवादी रूपवादी।

साहित्य के क्षेत्र में, कविता और नाटक में ऐसा क्षेत्र-परिवर्तन, दल-बदलू कार्य कलाप बड़े पैमाने पर हुआ है। छन्दोबद्ध लिखने वाले मुक्त-छन्द और गद्यप्राय लिखने लगे। जो बहुत स्थूल लिखते थे, वे बिम्बवादी हो गए। आलोचकों ने भी बड़े खेमे बदले, शुक कलावादी 'युगधर्म' की बातें करने लगे। सामाजिक यथार्थवादी 'मानवतावादी' अमूर्त विचारों की।

फिर भी शैली विचार में जैसे सतीश गुजराल या हुसैन, आलमेलकर या बेंद्रे की अपनी एक विशिष्ट पद्धति है—रेखा, रंग, रचना की, वैसी ही अत्याधुनिकों में

भूपेन खक्कर या गुलाम मुहम्मद शेख या स्वामीनाथन का अपना एक मुहावरा हैं, जो पहचान में आ जाता है। हिन्दी की आधुनिक कविता में शमशेर, अज्ञेय, मुक्तिबोध के बाद ऐसे कवि बहुत कम हैं, जिनकी अपनी विशिष्ट शैली हो। अन्य, कविताओं से कवि नाम हटा दीजिये, और आधुनिक कविताओं का एक संग्रह बनाइये, सब एक से ही 'बिना चेहरों के' लगेंगे।

इसीलिए आधुनिक कला-समीक्षा में 'संचेतना', 'प्रक्रिया', 'संज्ञा', 'पहचान', जैसे शब्द बार-बार दुहराये जा रहे हैं - ये तीन शब्द मैंने लघु पत्रिकाओं के शीर्षकों से लिये, पर बात वही है। आधुनिक कला समीक्षा की सबसे बड़ी समस्या यही है कि वह अपने आप सें अजनबी कलाकारों को अपने आप से अजनबी शब्दावली में अपने आपसे अजनबी पाठकों-श्रोताओं दर्शकों तक प्रेषणीय बनाना चाहती है। परिणाम 'संवाद शून्यता की स्थिति'।

साहित्य से कुछ उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करूं। टी० एस० ईलियट (1888-1965) ने 'दि परफेक्ट क्रिटिक' में 'रैनीं द्यु गुरमां' का उद्धरण दिया था—"जिस लेखक की शैली अमूर्त (एब्स्ट्रैक्ट) होती है, वह सदा भावशबल (सेंटिमैंटेलिस्ट) होता है, कम-से कम संवेदनशील आत्मा होता है, सच्चा लेखक जो कलाकार होता है कभी निरा भावुक या भाव-शबल नहीं होता, और संवेदनशील आत्मा वाला भी बहुत विरले ही होता है।"

सारी समस्या भाषागत है। डेविड यू प्राल (1886-1940) ने 'सौन्दर्य-शास्त्रीय समीक्षा' ग्रन्थ में लिखा था :—

"शब्दों के अर्थ प्रत्यक्ष, अशब्दात्मक कथ्य में होते हैं। एक अप्रत्यक्ष संकेतमय माध्यम, जैसे भाषा, सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से दो रूपों में प्रयुक्त होती है :—

(1) शब्द सुने नहीं जाते। पर शब्दों के भीतर से हम कुछ और सुनते हैं। शब्द शब्द की तरह नहीं होते, पर उनकी अभिधा से अधिक 'ध्वनि' प्रधान होती है। भाषा कथ्य निर्माण करती है।

(2) शब्दों की संरचना यों की जा सकती है कि पाठक उनमें एक प्रकार की लय या कुशल 'अर्थमयता' पा लेता है। यह भी केवल शब्द-रूप नहीं होती, पर बिम्बात्मक होती है।"

यानी शब्द हम देखते भी हैं, सुनते भी हैं और गुनते भी हैं। यह जो 'गुनने' की प्रक्रिया है, इसमें शैली बहुत अर्थपूर्ण कार्य करती है। वह एक प्रकार से संदेश-वाहक दूती है।

पर अब उपन्यास और नाटक में पश्चिमी देशों में पुनः शैली-शिल्प से अधिक कथ्य की ओर झुकाव हो रहा है। युनिवर्सिटी आफ इलिनॉय प्रेस से 'दि निउ फिक्शन : इंटरव्यूज़ विद इन्नोवेटिव अमेरिकन राइटर्स' पुस्तक छपी है, जिसमें टाम वूल्फ से भेंट है : 'उपन्यास में शैली और कथ्य' पर। उसमें वह स्पष्टतः कहता

है कि सारे उपन्यास मुख्यतः 'रिपोर्टिंग' होते हैं। डिकन्स हों या बालज़ाक, उनके जीवन काल में उन्हें सम्मानित नहीं किया गया, मात्र 'रिपोर्टर' कहा गया। बालज़ाक अपने आपको 'फ्रेंच समाज का सेक्रेटरी' मानता था। टामवूल्फ मानता है कि टेलीविजन या सिनेमा उपन्यासकार का स्थान नहीं ले सकता।

नाटक में भी 'विसगत थियेटर' और 'एक्शन थियेटर' के बाद पुनः उसी लोक-कला-कलावाली प्राचीन शैली को पुनः सिद्ध किया जा रहा है, जिसमें कथ्य और शैली से उठकर एक 'वागर्थ' की ओर नये नाटककार जा रहे हैं। ब्रेख्ट ने पूर्वीय मंच कला से प्रेरणा लेने की बात इसी अर्थ में की थी। हर नाटक का उसकी प्रस्तुतिकरण की शैली से बहुत घना सम्बन्ध होता है। 'मृच्छकटिक' को 'नोह' शैली में प्रस्तुत करना वैसा ही असंगत है, जैसे बर्नार्डशा के नाटक को भरत के नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रस्तुत करना।

ई—180, ग्रेटर कैलाश पार्ट II
नई दिल्ली— 110048

सौन्दर्यशास्त्रीय कला-धारणा के नये आयाम

डा० कुमार विमल

सौन्दर्यशास्त्र एक प्रकार का सम्पर्कशास्त्र (लिएज़ों डिसिप्लिन) है, जिसने विभिन्न विषयों, विद्याओं और कलाओं के बीच सम्बन्धक सेतु का कार्य किया है। एक सम्पर्क-शास्त्र होने के कारण सौन्दर्यशास्त्र की विषय-सीमा इतनी विस्तृत रही है कि अनेक तत्वान्वेषी विचारक इसे एक ऐसा महत्त्वाकांक्षी शास्त्र मान बैठे हैं, जो अपने फैलाव के कारण अस्पष्ट और निरानन्द हो गया है। किन्तु, ऐसी धारणा शीघ्रता में या घबराहट में बनाई हुई प्रतीत होती है। वास्तविकता यह है कि सौन्दर्यशास्त्र की विषय-सीमा लोचदार है। इसमें इतनी लचक और ग्रहणशीलता है कि इसने मनुष्य की ज्ञान-परिधि के विस्तार के साथ ही अपने अध्ययन के नये-नये आधारों का निरूपित किया है। सौन्दर्यशास्त्र ने प्रारम्भ में दर्शनशास्त्र को अपना प्रधान आधार बनाया था और बाद में मानव ज्ञान के विकास की नई दिशाओं का अनुधावन करते हुए इसने मनोविज्ञान, जीवविज्ञान, समाजशास्त्र, नृतत्त्वशास्त्र, गहन इतिहास (डेप्थ हिस्ट्री) आदि को नये आधार के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार, सतत विकासमान 'एस्थेटिक कण्टिनुअम' के साथ अपना समगति-सम्बन्ध बनाये रखने के लिए सौन्दर्यशास्त्र ने अपनी विषय-सीमा में जिस लोच का आधान किया है, उसे केवल अस्पष्टता का कारण नहीं मानना चाहिए। इसके कई प्रकट लाभ हैं, जिनको नजरअन्दाज करने की कोशिश जायज नहीं मालूम पड़ती।

जब पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र के विरुद्ध विश्लेषणात्मक सौन्दर्यशास्त्र (ऐनेलिटिकल एस्थेटिक्स) ने अपने पंख खोले, तब उसने पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र के उस शब्द-जाल के खोखलेपन को उद्घाटित करना अपना लक्ष्य बनाया, जिसके द्वारा एक अर्से से अनावश्यक दार्शनिक आडम्बर का समाँ बाँधा जा रहा था। कई आँग्ल और अमरीकी विचारक सौन्दर्यशास्त्र के इस वागाडम्बर को जर्मन दार्शनिकों (सौन्दर्यशास्त्रियों) की देन मानते हैं। मेरी दृष्टि में यह कहना बहुत आसान है कि पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र में, जिसे 'दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्र' (फिलॉसोफिकल एस्थेटिक्स) कहना बहुत दूर तक उचित होगा, सामान्यानुमान और सहजोपलब्ध साधारणताओं को पकड़ने की लालसा अधिक रहती है। किन्तु, दूसरी ओर, इसे मानना ही होगा

कि विभिन्न ललित कलाओं में जो समान और सर्वनिष्ठ निधियाँ (कॉमन एस्थेटिक प्रॉपर्टीज) हैं, उनका विवेचन या विश्लेषण सौन्दर्यशास्त्र के अलावा अन्य किसी शास्त्र से सम्भव नहीं हो सकता। कारण, अब तक सौन्दर्यशास्त्र ने ही विभिन्न ललित कलाओं की सामान्य निधियों के विवेचन-विश्लेषण के लिए एकमात्र सम्पर्कशास्त्र (लिएज़ों डिसिप्लिन) का काम किया है। इसलिए, जो विचारक सौन्दर्यशास्त्र को सामान्यता, प्रमातगत तत्त्वपरकता और भ्रामक सादृश्यों का शास्त्र मानते हैं, उन्हें अपनी धारणा को नम्र तथा सन्तुलित बनाने की आवश्यकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अब तक सौन्दर्यशास्त्र में प्रत्ययवादी (आइडिअलिस्ट) और प्रकृतिवादी (नेचरलिस्ट) सिद्धान्तों तथा दृष्टिकोणों की प्रधानता रही है। इसलिए, इतः-पूर्व सौन्दर्यशास्त्र पर क्रोचे और कॉलरिज-जैसे प्रत्ययवादी विचारकों का प्रभुत्व रहा है अथवा समाजशास्त्र, उद्विकास (ईवलूशन) या मनोविश्लेषण की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्र पर सोचनेवाले टेन, स्पेन्सर अथवा फ्रायड-जैसे विचारकों का। निकटपूर्व कई दशकों में सौन्दर्यशास्त्र के प्रकृतिवादी निकायों के अन्तर्गत टेन की समाजशास्त्रीय व्याख्या, स्पेन्सर की उद्विकासवादी व्याख्या और फ्रायड की मनोविश्लेषणवादी व्याख्या की काफी चर्चा रही है। इन सभी प्रकृतिवादी निकायों ने मिलकर परम्परा से आ रहे प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र को जो कलात्मक अभिव्यक्ति की सार्वभौम और जैव आवश्यकता (हीगेल के शब्दों में Bedurfnis Zur Kunst) को भावात्मक तूल देता रहा, कसकर झकझोरा तथा उसकी त्रुटियों एवं अपूर्णताओं की ओर विचारकों का ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु, ये सभी प्रकृतिवादी निकाय, अलग-अलग कौन कहे, एकजुट होकर भी प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र का कोई समर्थ विकल्प प्रस्तुत नहीं कर सके। अब तो नई पीढ़ी के अनेक सौन्दर्यशास्त्री प्रकृतिवादी सौन्दर्यशास्त्र को भी उसी तरह अपूर्ण और दोषपूर्ण मानते हैं, जिस तरह प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र को। इनका कहना है कि प्रत्ययवादी और प्रकृतिवादी व्याख्याताओं ने सौन्दर्य, समानुभूति, प्रेषणीयता इत्यादि जैसे भाववाचक और अनिश्चितार्थक शब्दों का बारम्बार प्रयोग कर सौन्दर्यशास्त्र को वाग्विस्तार या वाक्प्रपंच बना दिया है, जिसके फलस्वरूप सौन्दर्यशास्त्र की उपयोगिता किसी 'स्यूडो-साइन्स' या शब्दाडम्बरपूर्ण रीतिशास्त्र (टजिड रेटॅरिक) की तरह सन्दिग्ध हो गई है। अतः इन दिनों इन दोनों प्रकार के सौन्दर्यशास्त्र (अर्थात् प्रत्ययवादी और प्रकृतिवादी) को अपूर्ण तथा त्रुटिपूर्ण मानकर किसी समर्थ विकल्प की खोज जारी है। कुछ धन्यंमन्य सौन्दर्यशास्त्री तो एक प्रतीपधुर को सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का प्रस्थान-बिन्दु बनाना चाहते हैं। इनका कथन है कि सौन्दर्यशास्त्र का अध्येतव्य विषय विभिन्न ललित कलाओं की आधारभूत समानताओं का अध्ययन नहीं, बल्कि उनकी पारस्परिक असमानताओं, पृथकताओं और विभेदक विशिष्टताओं का, अवयव-प्रणाली अथवा अधिकरण-प्रणाली पर अध्ययन होना चाहिए। इसी तर्क के आधार पर ये क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और क्लाइव बेल के अर्थवान् आधिदार्शनिक रूपवाद का खण्डन करते हैं। अर्थात्, इनकी दृष्टि में सौन्दर्यशास्त्र को एक सामान्यीकृत 'वैल्यू-स्टेटमेण्ट' का शास्त्र नहीं बनना चाहिए।

उसे कृति-विशेष की रचना-प्रक्रिया, आलोच्य कृति के प्रति आलोचक की प्रतिक्रिया या पर्युत्सुकता, सहृदय की कला-रुचि का विकास इत्यादि-जैसे विशिष्ट और वस्तुनिष्ठ प्रश्नों पर विचार करना चाहिए।

उदाहरणार्थ :—

- कारयित्री प्रतिभा किस प्रकार 'प्रीक्रिएटिव इमेजेज' को सँजोती है ?
- एक सहृदय या आलोचक किसी कलाकृति के प्रति अपनी प्रत्यर्थता और पर्युत्सुकता की व्याख्या अथवा उसका बौद्धिक विश्लेषण किस प्रकार करता है ?
- आलोच्य कृति के प्रति आलोचक की अनुभूति के कितने स्तर और प्रकार होते हैं ? आलोचना प्रारम्भ करने के पहले, आलोचना करते समय और आलोचना के उपरान्त उसकी अनुभूति के स्तर तथा प्रकार में क्या अन्तर रहता है ?
- एक आलोचक आलोच्य कृति के आस्वादन से उद्रिक्त अपनी सौन्दर्यानुभूति को किस प्रकार मूल्यानुभूति में परिवर्तित करता है ?
- सहृदय की सौन्दर्य-चेतना, भाव-वृत्त और कला-रुचि के विकास में वय की कौनसी भूमिका रहती है ? कारण, वय के साथ व्यक्ति की सौन्दर्य-चेतना और कला-रुचि में परिवर्त्तन होता रहता है। उदाहरण के लिए, एक कविता या चित्रकृति पचास वर्ष की उम्र में एक सहृदय को वही आनन्द नहीं देती, जो आनन्द उस सहृदय को उसी रचना से बीस वर्ष की उम्र में मिला था या पचास वर्ष की उम्र में उस रचना से मिली अनुभूति की पुनरावृत्ति पचहत्तर वर्ष की उम्र में उसी रचना के आस्वादन से नहीं हो पाती। इस 'नही' का 'क्यों' अत्यन्त विचारणीय है।
- नन्दतिक (एस्थेटिक) निर्णय नैतिक निर्णय से भिन्न क्यों हुआ करते हैं ?
- आधुनिक कलाकार 'इमोशन' के बदले 'इमोशनल कम्प्लेक्स' की अभिव्यक्ति क्यों और किस प्रकार करना चाहता है ? क्या इसे वैसी उलझनों का सामना करना पड़ रहा है, जैसी उलझनों का सामना करने की आवश्यकता पहले के कलाकारों को नहीं पड़ती थी ?
- आधुनिक युग में वैज्ञानिक उपलब्धियों एवं अनेक मूल्यगत परिवर्तनों के कारण मानवीय संवेदना का नवीकरण किस तरह हो रहा है और नई कला के लिए इस नवीकृत संवेदना या बदली हुई संवेदना को उसकी पूर्णता में अभिव्यक्त करना क्यों अनिवार्य हो गया है ?

इस प्रकार, पारम्परिक सौन्दर्यशास्त्र की सीमा से बाहर अन्य अनेक प्रश्न हैं, जिन पर विचार करना अधुनातन सौन्दर्यशास्त्र के लिए प्रौढ़ि का प्रत्यायक होगा और उसे अधिक प्रमाण-प्रतिपन्न बनायेगा।

अधुनातन सौन्दर्यशास्त्र के नये आधारों के अन्वेषी अब यह भी कहते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र को दार्शनिक आधारों की नहीं, भाषिक आधारों (लिंग्विस्टिक फाउण्डेशन्स) की आवश्यकता है। सम्भवतः, सौन्दर्यशास्त्र को भाषिक आधार देने के प्रयत्न में ही 'लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स' का अध्ययन इन दिनों काफी जोर पकड़ रहा है। 'लिंग्वोस्टाइलिस्टिक्स' और भाषा पर लिखित अनेक अभूत ग्रन्थ इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं। किंतु, सौन्दर्यशास्त्र को केवल भाषिक आधारों तक सीमित रखने में सबसे बड़ी कठिनाई यह पैदा होती है कि सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र की तरह केवल वाक्कला या वाणी के माध्यम से व्यक्त होने वाली कला का अध्ययन नहीं करता। सौन्दर्यशास्त्र तो काव्य-कला मात्र का नहीं, सभी ललित कलाओं का शास्त्र है। इसलिए, सौन्दर्यशास्त्र को केवल भाषिक आधार तक सीमित कर देने पर चित्र, मूर्ति और वास्तु का क्षेत्र अविवेचित ही रह जायगा।

सौन्दर्यशास्त्र के भाषिक आधार के प्रति अस्तित्ववादी चिन्तक हाइडेगेर ने भी अपना आग्रह व्यक्त किया है। हाइडेगेर का मन्तव्य है कि सत्य का आकलन या उद्घाटन कला का आधार है। सत्य का यह उद्घाटन, आकलन या निबन्धन सर्वाधिक समर्थ रूप में भाषा (लैंग्वेज) के माध्यम से ही होता है। स्पष्टतः, हाइडेगेर की यह मान्यता सौन्दर्यशास्त्र के भाषिक आधार की वांछनीयता क संकेतित करती है। हाइडेगेर ने अपनी पुस्तक 'Imterwegszur Sprache' में संकलित 'Die Sprache' शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत 'भाषा' के महत्त्व पर जमकर विचार किया है। किन्तु, मेरी दृष्टि में वही व्यावहारिक कठिनाई पुनः उपस्थित होती है कि सौन्दर्यशास्त्र केवल वाणी के माध्यम से व्यक्त होने वाली कला का शास्त्र नहीं है। यह तो सभी ललित कलाओं का शास्त्र है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को एक सीमा तक ही भाषिक आधार पर प्रतिष्ठित किया जा सकता है। दूसरी बात यह कि शब्द, जो भाषा के घटक हैं, बहुत ही दुर्बल होते हैं। शब्द न तो गहन आध्यात्मिक आशयों को ठीक-ठीक व्यक्त कर पाते हैं और न विज्ञान के सूक्ष्म कथ्यों या अतिवस्तुनिष्ठ तथ्यों को पूरे एतावत्व (ऐक्यूरेसी) के साथ अभिव्यक्ति दे पाते हैं। अतः, यह प्रश्न खड़ा होता है कि ऐसे दुर्बल घटक से निर्मित भाषा का आधार सौन्दर्यशास्त्र के लिए कहाँ तक उपयोगी और समर्थ हो सकता है।

अब तक के कला-चिन्तक मुख्यतः दो वर्गों में बंटे हुए हैं। एक वर्ग है सोद्देश्यतावादी विचारकों का और दूसरा वर्ग है निरुद्देश्यतावादी विचारकों का। कला की 'ऑटोनामो' और स्वतःस्फुरित रचना-प्रक्रिया को पसन्द करनेवाले विचारक सदैव कला को निरुद्देश्य मानते रहे हैं। इनकी धारणा है कि किसी पूर्वनिर्धारित सोद्देश्यता से जुड़कर कला मलिन हो जाती है और वह किसी मतवाद के घोषणा-पत्र का ललित प्रतिरूप-मात्र रह जाती है। इसी विचारधारा के चिन्तकों ने समय-समय 'कला कला के लिए' अथवा कला की स्वतः चालित सर्जना या 'शुद्ध कविता' (Poesic Pure) जैसी कला की बात चलाई है। सुनने में यह बात कलाकारों और

कलाप्रेमियों को बहुत प्रिय लगती है, क्योंकि इसमें कला तथा कलाकार की स्वतन्त्रता का आभास मिलता है। किन्तु, इसका बेजा फायदा अबतक समाज की वे प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ उठाती रही हैं, जो प्रगतिशील विचारधारा को रोककर समाज की पुरानी, असन्तुलित और वर्गभेद-युक्त संरचना में यथास्थिति बनाये रखना चाहती हैं। इस प्रकार, निरुद्देश्यतावादी विचारकों ने कला की जो परिभाषाएँ गढ़ी हैं, वे कला को लोक-मंगल का साधन माननेवाले विचारकों के लिए कदापि ग्राह्य नहीं हैं।

सोद्देश्यतावादी विचारकों का कहना है कि अच्छी कला कभी निरुद्देश्य नहीं हो सकती। कारण, रचना-प्रक्रिया, परिवेश और जीवन-सन्दर्भों की दृष्टि से फकत निरुद्देश्यता असम्भव है और वह समाज की जाग्रत् चेतना को गुमराह करने की एक गहरी साजिश है। अबतक की कला का इतिहास भी हमें यही बतलाता है कि जीवनोपयोगिता, सामाजिक ध्येय की अनिवार्यता और सुलझी हुई प्रेषणीयता के कारण कला-चिन्ता की सोद्देश्यतावादी धारणा भावानयन से भरी हुई निरुद्देश्यतावादी धारणा को सदैव पराजित करती रही है। यह दूसरी बात है कि निरुद्देश्यतावादी धारणा अवसर पाते ही अपने नाम और रूप को बदल-बदल कर सिर उठाती रही है और सामाजिक यथार्थवाद के पथ को बाधित करने के लिए कलावादी रचना-दृष्टि का सहारा लेकर संवेदनशील मनुष्य की उच्चतर इन्द्रियों-चक्षु और श्रोत्र से (रसना, घ्राण और त्वचा मनुष्य की हीनतर इन्द्रियां हैं) सबल समर्थन पाने का प्रयास करती रही है। कला-चिन्ता का यह द्वन्द्व सम्पूर्ण विश्व के कला-जगत में तद्देशीय सामाजिक स्थिति, मनोदशा और ऐतिहासिक घटकों के अनुरूप फैलता और सिकुड़ता रहा है।

किन्तु, कला-चिन्ता के इस विश्वव्यापी द्वन्द्व तथा अपरिभाषेयता के बावजूद कला का स्वरूप हमारे सामने आइने की तरह साफ है और वह यह है कि कला आदिम काल से आजतक मानव-समाज की निकटतम संगिनी रही है और उसके माध्यम से मनुष्य 'अभिव्यक्ति का सुख' भोगने के साथ ही समाज की नियति को नई-नई दिशाओं में मोड़ता रहा है। इस प्रकार, कला कलाकार के लिए केवल अभिव्यक्ति-सुख या आत्मतोष की प्राप्ति का एक साधन ही नहीं, बल्कि सामाजिक दायित्व के सक्रिय निर्वाह का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास भी है। मेरी दृढ़ धारणा है कि कला व्यक्ति-रूप कलाकार के 'सामाजिक व्यक्तित्व' की सारस्वत साधना है तथा कला के सामाजिक पक्ष का गहरा और गाढ़ा सन्बन्ध जन-संस्कृति के साथ है। जो कलाकार प्रगतिशील सामाजिक यथार्थवाद और जन-संस्कृति से दूर हटकर रहस्यपरक इलहामों और सूक्ष्म भावानयन को अभिव्यक्त करने में निमग्न हो जाता है, वह अपने समाज के लिए अनुपयोगी सिद्ध होता है। अपने आवेष्टनगत यथार्थ और समकालीन जन-संस्कृति से अलग रहकर निजी कल्पनाओं की गजदन्ती मीनार में बैठकर कला-सर्जन करने वाले ऐसे कलाकार को सोद्देश्यतावादी विचारक अधीत मूर्ख (Learned

Ignoramous) कहते हैं। प्रगतिशील विचारकों ने कलाकारों की ऐसी ही निष्क्रिय और सामाजिक यथार्थ से विरत मनोदशा को 'Curse of the ivory tower' कहा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कला का हमारे जीवन के साथ गहरा सम्बन्ध है। जहाँ भी किसी प्रकार की रचना है, सर्जना है, वहाँ कला है। फिर भी, सुविधा के लिए हमने कला को दो स्थूल वर्गों में विभक्त कर दिया है। एक है उपयोगी कला और दूसरी है ललित कला। कला-विवेचकों का कहना है कि उपयोगी कला स्थूल होती है और ललित कला अपेक्षाकृत सूक्ष्म। कारण, हम प्रकृति से प्राप्त असुविधाओं और अभावों को दूर करने के लिए उपयोगी कला का, जिसके अन्तर्गत बढ़ईगिरी, केश-कर्त्तन (Tonsorial Art), बरतन बनाने आदि की कला की गणना की जा सकती है, सहारा लेते हैं। इसलिए, उपयोगी कलाओं में स्थूलता का रहना स्वाभाविक है। शास्त्रीय ढग के पुराने विचारकों ने आधारगत स्थूलता की अधिकता के कारण उपयोगी कला को अपेक्षाकृत सूक्ष्म ललित कला की तुलना में दोयम स्थान दिया है।

इस सन्दर्भ में हमारे समक्ष तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं: पहला यह कि क्या लालित्य और उपयोगिता परस्पर-विरोधी हैं? उपयोगिता में भी लालित्य का समावेश सम्भव है और वस्तुतः जब उपयोगी सामानों को बढ़िया समाप्ति-संस्पर्श (Finishing touch) मिलता है, तब उनमें लालित्य आ ही जाता है। इसी तरह लालित्य में भी उपयोगिता छिपी रहती है और लालित्य का भी उपयोग विशेष प्रयोजनों के लिए किया जा सकता है। संगीत सुनकर सिर का दर्द घटाया जा सकता है और नृत्य को पेशा बनाकर अर्थोपार्जन किया जा सकता है। आशय यह कि उपयोगिता और लालित्य में कोई भयंकर स्थिति-बाध नहीं है। अतः, उपयोगी कला और ललित कला का विभाजन हमारी सुविधा के लिए है, जो किसी तात्त्विक आधार पर निर्भर नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि उपयोगी कला को ललित कला की तुलना में सदैव हीन या अवर कोटि का मानना कहाँ तक ठीक है? उपयोगी कला में शारीरिक श्रम की—'मैनुअल लेबर' की प्रधानता रहती है। शारीरिक श्रम की इस प्रधानता के बावजूद उपयोगी कला को हमेशा ललित कला से हीन मानकर चलना अब लोकचेतना और जनभावना के अनुकूल नहीं है। पुराने आभिजात्य परिवेश के अनुगायक विचारकों की दृष्टि में शारीरिक श्रम की कोई महिमा नहीं थी। इसलिए, उपयोगी कला को निर्विवाद रूप में दोयम दर्जा देने में उन्हें कोई विप्रतिपत्ति नहीं हुई। किन्तु, अब वैसी स्थिति नहीं है और इसलिए पुरानी कलाधारणा में किंचित् संशोधन की आवश्यकता है।

तीसरा प्रश्न यह है कि उपयोगी कला को ही आधुनिक वैज्ञानिक युग की प्रौद्योगिकी के विकास-विस्तार का मूल क्यों नहीं माना जाय? यह बात लगभग

स्पष्ट है कि विगत युगों की उपयोगी कलाएँ ही आधुनिक युग की 'टेक्नोलॉजी' की पूर्वजा (प्रीकर्सर्स) हैं। आवश्यकता है, इस 'टेक्नोलॉजी' को अपनी 'सभ्यता' का नहीं, अपनी 'संस्कृति' का अवयव बना लेने की। इस कार्य में यूरोप और अमेरिका अफ्रेशियाई देशों, सम्भवतः जापान को छोड़कर, की तुलना में बहुत आगे हैं। कारण, यूरोप और अमेरिका में 'टेक्नोलॉजी' संस्कृति का एक घटक तत्त्व (Cultural Component) बन चुकी है और वह ललित कला को नूतन विकास, विस्तार एवं प्रकाश दे रही है, जिसका अच्छा परिचय हमें यूरोप और अमेरिका के 'थिएट्रिकल वर्कशॉप', 'स्टेज-मेकेनिज्म,' कलाकृतियों के 'ग्राफिक' या 'टेक्नोलॉजिक रिप्रोडक्शन', ध्वनि-विस्तारण, प्रकाश-व्यवस्था, टेलिविजन, रूप-सज्जा, पुरानी कलाकृतियों के 'डिकम्पोजीशन' से बचाव के रासायनिक उपायों आदि में मिलता है।

भारत अभी औद्योगीकरण की दिशा में सक्रिय हो हुआ है। अतः अभी हम अपने देश में औद्योगिक सभ्यता के द्वार पर दस्तक ही दे रहे हैं। फलस्वरूप, सम्प्रति 'टेक्नोलॉजी' केवल हमारी सभ्यता का अग बन सकी है। जब 'टेक्नोलॉजी' का समावेश हमारे भारतीय जीवन के दैनन्दिन कार्यों और कला-कक्षों में हो जायगा, तब सुदीर्घ आसंग के बाद 'टेक्नोलॉजी' हमारे लिए भी संस्कृति का, अतः कला का घटक तत्त्व बन जायेगी।

—96, एम० आई० जी० एच०
लोहियानगर
पटना—20

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा-विवेचन

●

डा० अभिमन्यु

भारतीय दर्शनों में 'बुद्धि' का विस्तार से विवेचन किया गया है। न्यायदर्शन के अनुसार बुद्धि को आत्मा का गुण माना गया है। 'बुध्यतेऽनया इतिबुद्धिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'जिसके द्वारा आत्मा को किसी वस्तु का बोध हो, उसे बुद्धि कहा जा सकता है।' आलङ्कारिक भाषा में इसे आत्मा का प्रकाश कह सकते हैं। यह आत्मा का वह प्रकाश है जिसके द्वारा सभी पदार्थ वा विषय आलोकित होते हैं।[1] राजशेखर के अनुसार बुद्धि के तीन रूप हैं—(1) स्मृति, (2) मति और (3) प्रज्ञा।[2] अतीत विषय का स्मरण कराने वाली बुद्धि 'स्मृति' कहलाती है। वर्तमान का ज्ञान कराने वाली बुद्धि 'मति' है। अनागत का प्रज्ञान कराने वाली बुद्धि 'प्रज्ञा' है। बुद्धि के ये तीनों रूप कवि के उपकारक हैं। विद्याधर चक्रवर्ती ने बुद्धि के इन तीनों रूपों की कुछ भिन्न प्रकार से व्यवस्था देते हुए कहा है कि स्मृति का सम्बन्ध अतीत से, मति का भविष्यत्काल से और बुद्धि का सम्बन्ध वर्तमान काल से होता है परन्तु प्रज्ञा का सम्बन्ध तो तीनों कालों से होता है।[3] यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि विभिन्न अलंकारशास्त्रियों द्वारा प्रयुक्त 'बुद्धि', प्रज्ञा और शक्ति सामान्यतः एक ही अर्थ के द्योतक हैं। उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

प्रतिभा का स्वरूप—

भट्टतौत[4] तथा अभिनवगुप्त[5] ने प्रतिभा को इसी प्रज्ञा का एक विशेष प्रकार माना है। प्रतिभा शब्द की व्याख्या करते हुए डा० नगेन्द्र ने लिखा है—'प्रतिभा में मूल शब्द है—भा, जिसका अर्थ है चमक या झलक। प्रति उपसर्ग के संयोग से प्रतिभा से अभिप्राय ऐसी ज्योति अथवा प्रकाश विशेष का हो जाता है जिसके द्वारा किसी वस्तु का रूप प्रतिभासित हो उठे।[6] अतः बुद्धि, प्रज्ञा और प्रतिभा से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह इस प्रकार की शक्ति है जिससे पदार्थ या विषयों का बोध तथा प्रतिभास होता है। प्रतिभा के द्वारा जो पदार्थ प्रतिभासित होते हैं क्या वे प्रतिभासित पदार्थ सत्य अथवा असत्य होते हैं? राजशेखर ने काव्य-प्रत्यक्ष की व्याख्या करते हुए बताया है कि शास्त्र में जो पदार्थ जैसे हैं उन्हें उसी रूप में वर्णित किया जाता है। परन्तु

काव्य में वे पदार्थ जैसे प्रतीत होते हैं—वैसा वर्णन किया जाता है। शास्त्र के द्वारा किया गया वर्णन 'स्वरूप निबन्धन' होता है और काव्य में किया गया वर्णन 'प्रतिभास निबन्धन' होता है। अतः राजशेखर काव्य में वर्णित पदार्थों को कल्पित मानते हुए भी लोकसंवादी होने के कारण सत्य मानते हैं। अन्य आचार्यों ने इसे कविसत्य माना है। इस कविसत्य के वर्णन के मूल में प्रतिभा का विशेष महत्त्व होता है।

प्रतिभा का सम्बन्ध संस्कारों अथवा वासना से होता है। जब चक्षु आदि इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सन्निकर्ष होता है तो वह पदार्थ तथा उसका आकार-प्रकार मन के द्वारा बुद्धि से ग्रहण कर लिया जाता है। संसार के विभिन्न पदार्थों के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले अनुभव आत्मनिष्ठ हो जाते हैं। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाले ये पदार्थ आत्मा में अपने संस्कार या वासना अंकित कर देते हैं। विशेष अवसर आने पर ये पूर्वानुभूत पदार्थ एवं संस्कार प्रतिभा के स्फुरित होने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त हो जाते हैं। दण्डी का विचार है कि प्रतिभा का सम्बन्ध पूर्ववासना के गुणों से होता है।[7] वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज माना है। उनके अनुसार प्रतिभा जन्मान्तरागत संस्कार विशेष है।[8] अभिनवगुप्त प्रतिभा को जहां 'प्राक्तन संस्कारमयी' स्वीकार करते हैं वहां उसे वे अनादि भी मानते हैं।[9] प्रतिभा के विषय में कुन्तक का दृष्टिकोण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने लिखा है—'प्राक्तनाद्यतन—संस्कार परिपाक-प्रौढाप्रतिभा' अर्थात् प्रतिभा पूर्व जन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक है।[10] इससे उन्होंने पूर्वाचार्यों की भाँति पूर्वजन्म के संस्कारों को मानते हुए इस जन्म में भी प्राप्त होने वाले संस्कारों को मान्यता प्रदान की है। प्रतिभा में पूवजन्म के संस्कारों को मान्यता देना इसलिए आवश्यक है कि कतिपय ऐसे भी कवि हुए हैं जो इस जन्म में अन्धे थे परन्तु उन्होंने काव्य में नेत्रवान् व्यक्तियों की भांति पदार्थों का प्रत्यक्षात्मक वर्णन किया है। राजशेखर ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के लिए अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थ भी प्रत्यक्ष के समान प्रतीत होते हैं। और जो प्रतिभाहीन है उसे प्रत्यक्ष होते हुए भी पदार्थ परोक्ष के समान प्रतीत होते हैं। सुना जाता है कि मेधाविरुद्र और कुमारदास आदि कवि जात्यन्ध थे। परन्तु उनके द्वारा किया गया वर्णन प्रत्यक्षद्रष्टा से कृत वर्णन को भी अपने उत्कर्ष से तिरस्कृत कर देता है।[11] कवि के मन में विद्यमान संस्कारों या वासनाओं से काव्य में सौन्दर्य का आधान होता है। कालिदास के काव्यों में विद्यमान उपमा के मूल रहस्यों का प्रकाशन करते हुए डा० शशिभूषण दासगुप्त ने लिखा है--'बाहर जिस काव्य लक्ष्मी को हम देख पाते हैं, शब्द, छन्द, ध्वनि माधुर्य आदि नानाविध कलाकौशल में वह काव्य लक्ष्मी हमारे अन्तर्लोक में वासनारूपिणी मूर्ति धारण कर प्रतिष्ठित है। × × × बहुत दिनों की वह संस्कार राशि एकत्रित होकर हमारी वासना का सृजन करती है। उस वासना से ही नारी सुन्दर हो उठती है। रवीन्द्रनाथ ने कहा है—

शुधु विधातार सृष्टि नह तुम नारी।
पुरुष गढेछे तोरे सौन्दर्य संचारी

आपन अन्तर हते । वसि कविगण
सोनार उपमासूत्रे बुनिछे वसन ।
सपिया तोमार 'परे नूतन महिमा
अमर करेछे शिल्पी तोमार प्रतिमा ।

— — — —

पड़ेछे तोमार परे प्रदीप्त वासना
अर्धेक मानवी तुम अर्धेक कल्पना ।।

काव्य का जगत् वास्तविक जगत् नहीं है, वह मनुष्य की मानसी सृष्टि है—वासनामयी मूर्ति है—मनुष्य की स्मृतियों की दुनिया है ।[12] अतः बाह्यजगत् के सम्पर्क में आने से जिन पदार्थों या विषयों का हम साक्षात्कार करते हैं तथा उनके संसर्ग से जो अनुभव प्राप्त होते हैं उनका प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ जाता है । प्रतिभा के द्वारा इसी प्रतिबिम्बित जगत् को काव्य में पुनरुत्पादित किया जाता है ।

भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित प्रतिभा को पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों तथा आलोचकों ने कल्पना के रूप में स्वीकार किया है । डा० गणपतिचन्द्र गुप्त ने उनके द्वारा दी गई कल्पना की परिभाषाओं को निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है[13]—

(क) **मैक्डूगल**—"हम भली भाँति यह परिभाषा कर सकते हैं कि कल्पना अप्रत्यक्ष वस्तुओं के सम्बन्ध में चिन्तन मनन है ।"

(ख) **वुडवर्थ**—"हम कह सकते हैं कि कल्पना एक मानसिक कौशल है ।"

(ग) **एन्साइक्लोपीडिया**—"कल्पना वह मानसिक शक्ति है जो वस्तुओं की अनुपस्थिति में उन्हें मस्तिष्क के समक्ष प्रस्तुत करती है ।"

(घ) **ई० जी० मोल**—"कल्पना अपने सरलतम रूप में एक ऐसी शक्ति कही जा सकती है जो कि पूर्व अनुभवों की प्रतिलिपि पुनरुत्पादित करती है ।"

कल्पना की ये सभी परिभाषाए भारतीय आचार्यों द्वारा संकल्पित प्रतिभा से अत्यधिक समानता रखती हैं ।

प्रतिभा के भेद—

रुद्रट के अनुसार प्रतिभा दो प्रकार की है—(1) सहजा और (2) उत्पाद्या । सहजा प्रतिभा जन्मजात होती है और उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्ति आदि से उत्पन्न होती है । उत्पाद्या प्रतिभा से सहजा को संस्कार युक्त किया जाता है । अतः उत्पाद्या प्रतिभा सहजा में संस्कारों का आधान करती है ।[14] हेमचन्द्र ने प्रतिभा के सहजा और औपाधिकी के रूप में दो भेद किये हैं । आत्मा के प्रकाश का जहां सहज में ही आविर्भाव हो जाता है वहां सहजा प्रतिभा होती है । जहां किसी उपाधि अर्थात् मन्त्रबल, देवकृपा तथा किसी महापुरुष के अनुग्रह से प्रतिभा का आविर्भाव होता है, वह प्रतिभा औपाधिकी कहलाती है ।[15] राजशेखर ने प्रतिभा के दो मुख्य भेद माने हैं—

(1) कारयित्री और (2) भावयित्री । कारयित्री प्रतिभा कविगत है और भावयित्री का सम्बन्ध भावक से है। पुनः कारयित्री प्रतिभा तीन प्रकार की है— (1) सहजा, (2) आहार्या और (3) औपदेशिकी । सहजा का सम्बन्ध पूर्वजन्म के संस्कारों से है । इस जन्म के संस्कारों से आहार्या प्रतिभा उत्पन्न होती है। औपदेशिकी प्रतिभा उपदेशजन्या होती है । यह मन्त्र-तन्त्र, देवता-प्रसाद तथा गुरु आदि के उपदेश से उद्‌बुद्ध होती है ।[16]

प्रतिभा के कारणों का भारतीय आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से उल्लेख किया है । दण्डी के अनुसार प्रतिभा का मूलकारण वासना है । मम्मट ने इसे संस्कार विशेष कहा है । राजशेखर ने इस जन्म के संस्कारों को भी प्रतिभा (आहार्या) का कारण माना है । पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा के दो कारण माने हैं—(1) अदृष्ट और (2) व्युत्पत्ति एवं अभ्यास । उनके अनुसार अदृष्टोत्पत्ति के भी कई कारण होते हैं— देवता, महापुरुष आदि के प्रसाद से अदृष्ट की उत्पत्ति होती है । पण्डितराज जगन्नाथ ने अदृष्ट को व्यापक अर्थों में अपनाया है । उसके अन्तर्गत उन्होंने पूर्वजन्म के कर्म और वरदान आदि को ग्रहण किया है ।[17] व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के संस्कारक हैं । अतः कतिपय आचार्यों ने उन्हें भी प्रतिभा के कारणों में परिगणित कर लिया है ।[18]

प्रतिभा के कार्य—

यद्यपि विधाता की सृष्टि की भाँति प्रतिभा के कार्य अनेकरूपात्मक हैं फिर भी उनमें से उल्लेखनीय कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) प्रतिभा से पदार्थों का दर्शन किया जाता है ।

(2) प्रतिभा से पदार्थों में नवीनता का सन्निवेश होता है।

(3) प्रतिभा से कवि में भावलीन होने तथा सौन्दर्यानुभूति की क्षमता आती है ।

(4) प्रतिभा से अभिव्यञ्जना कौशल की सिद्धि होती है ।

प्रतिभा को परिभाषित करते हुए डॉ० के० सी० पाण्डेय ने लिखा है—

"The power of clear visualisation of the aesthetic image in all its fullness and life is technically called Pratibha"[19]

अर्थात् किसी सौन्दर्यात्मक पदार्थ के स्पष्ट अन्तर्दर्शन करने वाली शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है । प्रतिभा के द्वारा पदार्थों का अन्तर्दर्शन किया जाता है । दान्ते ने कल्पना (प्रतिभा) को प्रत्यक्षदर्शन एवं अभिव्यक्ति का अनिवार्य आधार माना है ।[20] महिमभट्ट का विचार है कि कवि की प्रतिभा से वस्तु की विशिष्ट प्रकृति का प्रकाशन होता है । यह भगवान् शिव के उस तृतीय नेत्र के समान है जिससे तीनों कालों में विद्यमान पदार्थों का साक्षात्कार किया जा सकता है ।[21] अभिनवगुप्त ने भी कवि की

इस प्रत्यक्षकारिणी नई दृष्टि का प्रतिपादन किया है।[22] कोलरिज ने प्रतिभा (कल्पना) को 'Prime agent of perception' माना है।[23] इस नई दृष्टि के उन्मीलित होते ही विश्व का उन्मीलन हो जाता है। इसीलिए काश्मीरी शैव दर्शन में प्रतिभा को महत्त्व प्रदान करते हुए कहा गया है—

> यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
> स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दे प्रतिभां शिवाम्॥

जब प्रतिभा का स्फुरण होता है तो कवि देशकाल की सीमा से परे विद्यमान वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप में चित्रित कर देता है। राजशेखर ने इसी तथ्य को कालिदास के ग्रन्थों से उद्धृत उद्धरणों के आधार पर पुष्ट करते हुए कहा है कि प्रतिभा सम्पन्न महाकवि अप्रत्यक्ष वस्तुओं को भी प्रत्यक्ष के समान वर्णित करते हैं—जैसे कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में स्वर्ग में रहने वाले तपस्वियों का वर्णन किया है।[24] 'रघुवंश' में द्वीपान्तर के व्यवहार को उपनिबद्ध किया है।[25] तथा उसी काव्य में इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर इन्दुमती का यथार्थ चित्रण किया है।[26] यद्यपि पदार्थों का दर्शन तो प्रख्या से हो जाता है। शास्त्र से भी पदार्थों का स्वरूप बोध हो सकता है परन्तु शास्त्रनिर्माण करने वाली बुद्धि और काव्यनिर्माण करने वाली बुद्धि में अन्तर होता है। इसे स्पष्ट करते हुए प्रो० ती० न० श्रीकण्ठय्या ने भट्टतौत के आधार पर लिखा है—"कहा जाता है कि कवि अनिवार्यतः ऋषि होता है और ऋषि वह है जिसे दर्शन होता है। दर्शन विश्व की अनेकरूप वस्तुओं और उनके गुणों के मूल में स्थित यथार्थ की प्रख्या है। शास्त्र में कवि कहलाने के लिए यदि किसी के पास यथार्थ का यह दर्शन है तो उतना पर्याप्त है। परन्तु सामान्य व्यवहार में कविपद का व्यवहार तभी किया जा सकता है जब उसके पास वर्णन और दर्शन दोनों ही हों।"[27] कवि जिन पदार्थों का दर्शन करता है, वह प्रतिभा से उनमें किसी अतिशय का आधान कर देता है जिससे उनमें सहृदय के हृदय को हर लेने वाली रमणीयता आ जाती है। वस्तु का स्वरूप अपूर्व प्रतीत होने लगता है। कवि को प्रजापति के तुल्य मानते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है—

> अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
> यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

इसलिए कवि अपनी इच्छा के अनुसार पदार्थों के चित्र प्रस्तुत करने में सक्षम होता है।

प्रतिभा के द्वारा पदार्थों का नवीकरण किया जाता है। इसके द्वारा वस्तुओं पर ऐसे गुणों का आरोप कर दिया जाता है जो उन वस्तुओं के स्वाभाविक गुण नहीं होते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना (प्रतिभा) की तीन शक्तियां स्वीकार की हैं जो निम्नलिखित हैं—

कल्पना (1) वस्तुओं पर नये गुणों का आरोप करने वाली है।
(2) वस्तुओं के स्वरूप में न्यूनाधिक परिवर्तन करने वाली है।
(3) वस्तुओं के विशिष्ट गुणों में से एक आध गुण को अलग करने वाली भी है।

पाश्चात्य विद्वानों ने पदार्थों में कल्पना से किये जाने वाले रूपपरिवर्तन की प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए कहा है कि कल्पना की 'कोडुएनेटिंग' तथा 'एसेम्प्लास्टिक' नामक दो शक्तियां होती हैं। 'कोएडुनेटिंग पावर' वह शक्ति है जो वस्तुओं को पिघला कर एक कर देती है। कवि की प्रतिभा भी दो वस्तुओं का एकीकरण करती है। इसकी दूसरी शक्ति का नाम है 'एसेम्प्लास्टिक पावर'। यह वह शक्ति है जो वस्तुओं को अपने दबाव से मोड़कर इच्छितरूप प्रदान करती है। जैसे कुम्हार चाक पर रखी हुई मिट्टी को अपनी उंगली से दबाते हुए सुन्दर घट का निर्माण करता है।[28]

प्रतिभा की इस रूपविधायिनी शक्ति का उल्लेख भारतीय आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में विस्तार से किया है। भट्टतौत के अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का वह भेद है जो नवनवोल्लेखशाली है। अभिनवगुप्त ने प्रज्ञा में वह शक्ति स्वीकार की है जो अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा है। कुन्तक का विचार है कि कवि जब अपनी प्रतिभा से किसी पदार्थ में चारुता का आरोप करता है तो वह उस वस्तु के मौलिक स्वरूप को आच्छादित कर देता है और वस्तु अपने आप में नई दिखाई देने लगती है। इसका स्वरूप स्वाभाविकता से कुछ भिन्न प्रतीत होने लगता है। भिन्नता का कारण उस वस्तु में कवि प्रतिभा से मण्डित किया गया सौन्दर्य या अतिशय है। इसी से वह वस्तु नई प्रतीत होती है क्योंकि कवि के द्वारा उसमें लोकोत्तर सौन्दर्य का समावेश कर दिया गया है। यही सौन्दर्य सहृदयों के हृदय को हर लेने वाला होता है।[29] आनन्दवर्धन का विचार है कि कविप्रतिभा से कवि की वाणी में नवीनता आ जाती है जिससे वह पुरातन पदार्थों को भी नये ढंग से नये रूप में प्रस्तुत कर देता है।[30] आगे चल कर उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि रस परिग्रह से काव्य में नवीनता आ जाती है जैसे वसन्त में सभी पुराने वृक्ष नये लगते हैं।[31] अतः प्रतिभा के प्रकर्ष से पुराने विषय भी नये प्रतीत होने लगते हैं। वस्तुओं के स्वरूप में प्रतिभा के बल से किसी चमत्कारप्रवण सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। अतः प्रतिभा में सर्जनात्मक गुण विद्यमान है—ऐसा माना जा सकता है।

प्रतिभा से पदार्थों में किसी विशेष सौन्दर्य का आधान कर दिया जाता है। इससे भावलीन होने और सौन्दर्यानुभूति में सहायता मिलती है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का विचार है कि—"भारतीय दृष्टि से कल्पना वह साधन है जो मूलवर्ती भावसत्ता को हृदयग्राही बनाता है।"[32] कवि कल्पना विषय को सहृदय संवेद्य बनाती है। इसके समर्थन में आचार्य वाजपेयी जी ने कहा है—"कवि की कल्पना जितनी ही

नैसर्गिक तथा प्रशस्त होगी, उन्नत काव्य का सृजन करेगी, उतनी चित्रण की सौन्दर्य-मयता बढ़ जायगी और उतना ही समुन्नत और प्रगाढ़ उसका संवेदन होगा।"[33] भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा को उद्‌बुद्ध करने में रस या भावोल्लास को मूलकारण माना है। रसावेश से कवि के कल्पना व्यापार को गति या प्रेरणा प्राप्त होती है। प्रतिभा के स्फुरण में रस या भावोद्दीप्ति का विशेष महत्त्व है। अभिनवगुप्त का कथन है कि – 'प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्या विशेषो रसावेश वैशद्य सौन्दर्य काव्यनिर्माण क्षमत्वम्।[34] अर्थात् प्रतिभा में अपूर्व वस्तु के निर्माण की क्षमता होती है। उसकी विशेषता यह है कि रसावेश के प्रभाव से वह वस्तु या काव्य सौन्दर्यमय प्रतीत होने लगता है और ऐसा काव्य या वस्तुगत सौन्दर्य भावोद्दीपन में समर्थ होता है। उसमें संवेदनशीलता का गुण विद्यमान होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कल्पना (भावना) का काव्यशास्त्रीय विवेचन करते हुए लिखा है—"भावयोग की सबसे उच्च कक्षा पर पहुचे हुए मनुष्य का जगत् के साथ पूर्ण तादात्म्य हो जाता है, उसकी अलग भावसत्ता नहीं रह जाती, उसका हृदय विश्वहृदय हो जाता है। —साहित्यवाले इसी को भावना कहते हैं और आजकल के लोग कल्पना। जिस प्रकार भक्ति के लिए उपासना या ध्यान —उसी प्रकार भावों के प्रवर्तन के लिए भी भावना या कल्पना अपेक्षित होती है।"[35] उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि प्रतिभा से कवि विषय को सौन्दर्य से मण्डित कर देता है। और वह सौन्दर्य भावावेश से प्रेरित होता है। भावावेश से चित्रित सौन्दर्य सहृदय के लिए संवेद्य बन जाता है।

डा० शशिभूषणदास गुप्त ने कुन्तककृत वक्रोक्तिजीवित के आधार पर इस विषय को अत्यधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है – "यथार्थ प्रतिभाशील व्यक्ति के हृदय में जब बाहर का कोई पदार्थ प्रतिफलित होता है; अर्थात् बहिर्वस्तु के तत्कालोचित एक विशेष हृत् स्पन्दन के अलौकिक मागास्पर्श से एक विशेष अलौकिक महिमा उद्-भासित हो उठती है। यह जो नवोद्‌भास है, उसके भीतर बहिर्वस्तु अपने प्रकृत रूप में भी महिमान्वित हो सकती है। — — — प्रकृतरूप का अतिक्रम कर एक उत्कर्ष विशेष से भी महिमान्वित हो सकती है। यह नवोद्‌भासित विषय-वस्तु तब अपने वस्तु स्वरूप का परित्याग कर कविचित्त में एक चिन्मय रूप धारण करती है, इस चिन्मय रूप की ही परिणति है कविविवक्षा। यही कवि के आत्मप्रकाश या आत्म-सृष्टि की प्रेरणा है। — — — तब वह कलाकृति ही रसिकजनों की चेतन चम-त्कारिता का कारण होती है।"[36]

प्रतिभा से अभिव्यञ्जना सामर्थ्य स्वतः स्फूर्त हो जाती है। अभिव्यञ्जना के समस्त उपकरण कवि के समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। क्या गुण, क्या रस, अलंकार, औचित्य आदि सभी प्रस्तुत हो जाते हैं। इस विषय में आनन्दवर्धन का कथन है— "अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाण दुर्घटनान्यपि रससमाहित चेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति।"[37] प्रतिभा के विद्यमान होने पर केवल अलंकार ही नहीं

काव्यार्थ की अनेक छटाएं भी विद्योतित होने लगती हैं। काव्योपयोगी अर्थयोजना का तो कोई अन्त ही नहीं है, कवि में केवल प्रतिभा गुण होना चाहिए।[38] रुद्रट ने शक्ति (प्रतिभा को परिभाषित करते हुए कहा है कि—जब कवि का मन समाहित हो जाता है तो अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) का बहुधा स्फुरण होता है।[39] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रतिभा का लक्षण देते हुए रुद्रट के विचारों से साम्य रखने वाली शब्दावली का प्रयोग किया है। उनके अनुसार प्रतिभा - "सा च काव्य घटनानुकूलशब्दार्थो परिस्थितिः।"[40] अर्थात् काव्य निर्माण का केवल एक कारण है— वह है कविगत प्रतिभा। यह प्रतिभा काव्यानुकूल शब्दार्थ की उपस्थितिकारिणी होती है। राजशेखर ने प्रतिभा के व्यापक रूप पर विचार करते हुए कहा है—"या शब्दग्राममर्थ-सार्थमलङ्कारतन्त्रं युक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदय प्रतिभासयति सा प्रतिभा।"[41] अर्थात् न केवल शब्दसमूह, अर्थसमूह तथा अलङ्कारादि अपितु काव्यनिर्माण की समस्त सामग्री प्रतिभा से प्रतिभासित हो उठती है। इसी समस्त संभार से कवि काव्यनिर्माण में प्रवृत्त होता है। आधुनिक काव्यशास्त्री श्री मोहितलाल मजूमदार ने कल्पना की व्याख्या करते हुए कहा है—"किसी भी वस्तु या तथ्य को एक विशेष भावदृष्टि की सहायता से अभिनव रूप में प्रकट करने की जो कविवृत्ति है, उसी का नाम कल्पना है।"[42] कल्पना या प्रतिभा से शब्दार्थ में वैशिष्ट्य आ जाता है, यही नहीं उससे रस, गुण, अलङ्कार आदि का प्रकाशन उचित रूप से किया जाता है। अतः प्रतिभा से कवि अभिव्यञ्जना कला में नैपुण्य प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रतिभा के दर्शन, भावन और अभिव्यञ्जना ये तीन कार्य मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारतीय काव्यशास्त्रियों ने प्रायः काव्य के तीन हेतुओं का विवेचन किया है: प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। अधिकांश आचार्यों ने इन तीन कारणों में से प्रतिभा को महत्त्वपूर्ण उद्घोषित किया है। वामन की मान्यता है कि कवित्व का बीज प्रतिभा है। इसके बिना काव्य की रचना नहीं हो सकती है, यदि कोई व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर काव्य रचना में प्रवृत्त हो जाता है तो उसकी रचना हास्या-स्पद बन जाती है।[43] इसीलिए राजशेखर, हेमचन्द्र तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने काव्य का कारण 'केवल कविगत प्रतिभा' को माना है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक तत्त्व हैं। आचार्य मम्मट का विचार है कि ये तीनों (प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास) मिलकर ही काव्य का कारण बनते है।[44] उनका कथन है—

"शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्र काव्याद्य वेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

उन्होंने यहां हेतु शब्द का एक वचन में जो प्रयोग किया है, वह साभिप्राय है। इससे उनके समुदितवाद की पुष्टि होती है। परन्तु भामह का विचार है कि

व्युत्पत्ति, अभ्यास और प्रतिभा भी पृथक्-पृथक् कारण हो सकते हैं। परन्तु प्रतिभा काव्यनिर्माण का मुख्य साधन है। केशवमिश्र[45] तथा हेमचन्द्र[46] प्रतिभा को काव्य-निर्माण का प्रधान कारण मानते हैं। व्युत्पत्ति और अभ्यास तो प्रतिभा के संस्कारक हैं। हेमचन्द्र का कथन है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास काव्य के साक्षात् कारण नहीं हैं। क्योंकि प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए व्युत्पत्ति और अभ्यास विफल होते देखे गये हैं।[47] आनन्दवर्धन का कथन है कि किसी काव्य में कवि का यदि कोई अव्युत्पत्ति-कृत दोष है तो उसे उसकी प्रतिभा आच्छादित कर लेती है परन्तु प्रतिभागत दोष है तो वह झटिति अवभासित हो जाता है।[48] उन्होंने इसी सन्दर्भ में कहा है कि यदि कवि में प्रतिभा है तो वह अनेक विषयों का वर्णन कर सकता है प्राचीन से प्राचीन वर्णित विषयों में भी नूतनता का समावेश कर सकता है। और प्रतिभाहीन व्यक्ति किसी भी वस्तु के वर्णन करने में सामथ्य से रहित होता है।[49]

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा को अखण्ड और अनादि माना गया है। अधिकांश आचार्य उसका सम्बन्ध पूर्वजन्म के संस्कारों के साथ स्थापित करते हैं। परन्तु कुन्तक का मन्तव्य है कि प्रतिभा का सम्बन्ध पूर्वजन्मकालीन तथा वर्तमान-कालीन संस्कारों से है। कतिपय आचार्यों ने काव्यनिर्माण का एकमात्र हेतु 'केवल कविगत प्रतिभा' को स्वीकार किया है। व्युत्पत्ति और अभ्यास उसके संस्कारक हैं। परन्तु मम्मट इन तीनों को काव्यनिर्माण में समुदित रूप से हेतु मानते हैं। सभी काव्यशास्त्री नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के महत्त्व को अस्वीकार करने की स्थिति में नहीं हैं। प्रतिभा के द्वारा पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। उनके अनगढ़ रूप को प्रतिभा के प्रकर्ष से कवि अतिशयान्वित कर देता है। अतिशय अथवा वैचित्र्य से अलंकृत पदार्थ सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने में समर्थ हो जाते हैं। प्रतिभा की पृष्ठभूमि में 'रसावेश' काम करता है। इससे वे पदार्थ तथा उनके सम्पर्क से जन्य अनुभव मानव मन में सौन्दर्यानुभूति एवं रसोद्रेक का आधान करते हैं। प्रतिभा के माध्यम से कवि अभिव्यञ्जना में इन्द्रधनुषी रग भरने लग जाता है। प्रतिभा से काव्य के सभी उपकरण कवि के समक्ष करबद्ध होकर उपस्थित हो जाते हैं। भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने जिस धरातल पर प्रतिभा का विवेचन किया है, उसी के समान धरातल पर कोलरिज ने कल्पना का विवेचन किया है। उनके द्वारा दी गई कल्पना की परिभाषा निम्नलिखित रूप में अंकित की जा सकती है—"हम जिसे विशेष रूप से 'कल्पना' नाम देते हैं, वह समवेत उपस्थापन की अपूर्व ऐन्द्रजालिक शक्ति है। कल्पना शक्ति विरोधी एवं विश्लिष्ट गुणों में सन्तुलन एवं समरसता लाती है। उदात्तता, प्राचीन तथा चिरपरिचित वस्तुओं में नवीनता, विलक्षण भावस्थिति, चिर जागरूक निर्णय और उल्लास तथा अनुभूति के प्रति गत्यात्मक स्वाधिकार—ये सब—कल्पना के गुण हैं। कल्पना विविध तथ्यों के समूह को प्रभावगत एकता में परिणत करने की शक्ति रखती है और विचारों की श्रृंखला को एकीभूत प्रभावी विचार या अनुभूति में समाहित करती है। इस प्रकार कल्पना द्वारा एक प्रकार का संगीतमय

आनन्द प्राप्त होता है।"[50] उपर्युक्त परिभाषा के तत्वों का आकलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित प्रतिभा और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र में विवेचित कल्पना में कितना अद्भुत साम्य है।

सन्दर्भिका

1. भारतीय दर्शन परिचय (प्रथम खण्ड), हरिमोहन झा, पृ० 111
   (क) आत्माश्रयः प्रकाशः (पदार्थ चन्द्रिका)
   (ख) आत्मगुणत्वे सत्यर्थप्रकाशः (तर्कप्रकाशः)
2. काव्यमीमांसा, सं० केदारनाथ शर्मा, पृ० 24
3. काव्यप्रकाश पर सम्प्रदाय प्रकाशिनी टीका, विद्याधर चक्रवर्ती, पृ० 13
   स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागामिगोचरा।
   बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता॥
4. भट्टतौत, काव्यकौतुक, डा० एच० डी० शर्मा द्वारा काव्यप्रकाश, उल्लास (1) पृष्ठ 15 पर उद्धृत। प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता।
5. लोचन (ध्वन्यालोक) पृ० 92
   प्रतिभा अपूर्ववस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा।
6. हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, सं. डा० नगेन्द्र, भूमिका भाग, पृ० 43
7. काव्यादर्श, 1.104
   पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्।
8. काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति—1.3.16
   कवित्वबीजं प्रतिभानम्। जन्मान्तरागत संस्कारविशेषः कश्चित्।
9. अभिनव भारती, खण्ड 1
   अनादि प्राक्तन संस्कार प्रतिभानमयः।
10. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, भूमिका, पृष्ठ 53.
11. काव्यमीमांसा, पृ० 28
12. उपमा कालिदासस्य, पृ० 30—33
13. साहित्यविज्ञान, पृ० 177.
14. काव्यालङ्कार, 1.16—20.
15. काव्यानुशासन, पृ० 6.
16. काव्यमीमांसा, पृ० 31.
17. द्रष्टव्य—प्रेमस्वरूप गुप्त, रस गंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 61.
18. वाग्भट, अलङ्कार तिलक, पृ० 2
    रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० 59 पर उद्धृत।
19. Indian Aesthetics, P: 151.
20. द्र०, राम अवध द्विवेदी, साहित्य सिद्धान्त, पृ० 99.
21. व्यक्तिविवेक, 2.116—118

विशिष्टमस्य यद्रूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरम् ।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥

— — — —

सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते ॥

22. द्रष्टव्य—भारतीय काव्यसिद्धान्त, पृ० 86.
23. साहित्य-सिद्धान्त, पृ० 100.
24. अभिज्ञान शाकुन्तल, 7.12
25. रघुवंश, 6.57
26. वही, 5.82
27. द्र०, मारतीय काव्य सिद्धान्त, पृ० 91
28. द्र०, विक्रमादित्य राय, काव्यसमीक्षा, पृ० 16.
29. वक्रोक्तिजीवित, पृ० 140
यत्र वर्ण्यमान स्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूताः सन्तः क्रियन्ते, केवलं सत्ता मात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते, येन कामपि सहृदयहृदयहारिणीं रमणीयताम धिरोप्यते ।
30. ध्वन्यालोक, 4.2
31. वही, 4.4
दृष्टपूर्वाऽपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वेनवत्वमायान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥
32. आधुनिक साहित्य, पृ० 72.
33. नया साहित्यः नये प्रश्न, पृ० 18
34. ध्वन्यालोक लोचन, 1.6
35. रसमीमांसा, पृ० 25
36. उपमा कालिदासस्य, पृ० 9--10.
37. ध्वन्यालोक, पृ० 86-87.
38. ध्वन्यालोक 4.6
न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ।
39. रुद्रट, काव्यालङ्कार, 1.15
मनसि सदासुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥
40. रसगङ्गाधर, पृ० 25
41. काव्यमीमांसा, पृ० 27
42. भारतीय काव्य सिद्धान्त, पृ० 111.
43 काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, 1.3.16
कवित्वबीजं प्रतिभानम् । यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते । निष्पन्नं हास्यायतनं स्यात् ।
44. काव्यप्रकाश, पृ० 2
45. अलङ्कारशेखर, पृ० 4

46. काव्यानुशासन, पृ० 6
47. काव्यानुशासन, पृ० 6.

अत एव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारणम् ।
दृश्यते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्यभ्यासौ ।

48. ध्वन्यालोक, 4/परिकर श्लोक, पृ० 346

अव्युत्पत्तिकृतोदोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटित्यवभासते ॥

49. ध्वन्यालोक, पृ० 537.
50. डॉ० बच्चूलाल अवस्थी द्वारा 'ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्यचिन्तन', पृ० 389 पर उद्धृत ।

—संस्कृत विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला—171005

यास्क के लाक्षणिक प्रयोग

डा० मानसिंह

वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति की स्थिति में 'लक्षणा' नामक शब्द-व्यापार का आश्रय लिया जाता है।[1] वक्ता किसी तात्पर्यविशेष के सम्प्रेषणार्थ शब्दों का प्रयोग करता है। यदि उन शब्दों के साक्षात्संकेतित (शक्य, मुख्य अथवा वाच्य) अर्थ[2] से उसका तात्पर्य अर्थात् अभीप्सित अर्थ[3] नहीं आ पाता तो उसके तात्पर्य के ग्रहणार्थ श्रोता आदि को शक्ति, समय, संकेत, अभिधा आदि नामों से अभिधेय शब्द-व्यापार को छोड़कर 'लक्षणा' अथवा 'जघन्या' नाम्नी शब्द-वृत्ति की शरण लेनी पड़ती है। इस प्रकार लक्षणा का बीज तात्पर्य की अनुपपत्ति है।[4] मुख्यार्थ से तात्पर्य न आने की स्थिति में रूढ़ि (लोक-प्रसिद्धि, प्रयोग-प्रवाह) अथवा प्रयोजन-विशेष के कारण वक्ता के तात्पर्य को वहन करने वाला उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है। रूढ़ि अथवा प्रयोजनविशेष के कारण इस तद्युक्त अथवा तत्सम्बद्ध तात्पर्यभूत अन्य अर्थ को प्रदान करने वाली शब्द-वृत्ति ही 'लक्षणा' है। 'जघन्या', 'भक्ति' आदि इसी के अपर अभिधान हैं।

निरुक्तकार यास्क (अष्टम अथवा सप्तम शतक ई० पू०) ने यद्यपि लक्षणा वृत्ति का स्वतन्त्र रूप से वर्णन एवं विवेचन नहीं किया है तथापि इस महत्त्वपूर्ण शब्द-व्यापार से वे सुपरिचित थे। उन्होंने अमुख्य अथवा गौण अर्थ के बोधनार्थ 'भक्ति' शब्द का प्रयोग किया है।[5] परवर्ती काव्यशास्त्र में 'भक्ति' लक्षणा के लिए एक सुप्रचलित अभिधान है।[6] भक्ति उपचार है।[7] न्यायसूत्रकार गोतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन के अनुसार किसी सम्बन्धविशेष के कारण किसी वस्तु का उसके अवाचक पद द्वारा व्यपदेश 'उपचार' है।[8] आचार्य उद्द्योतकर[9] तथा मुकुलभट्ट[10] आदि भी इससे सहमत हैं। आलकारिकों में आचार्य अभिनवगुप्त[11] तथा उत्तुंगोदय[12] प्रभृति भी इसी मत का अवलम्बन करते हैं। आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, माणिक्यचन्द्र, गोविन्द तथा खुश्फहम् सिद्धिचन्द्रगणि उपचार को एक नवीन अर्थ प्रदान करते हैं; उनके अनुसार दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण भेद की प्रतीति न होना उपचार है।[13] आचार्य मम्मट इसके प्राक्तन पारम्परिक अर्थ से भी परिचित हैं।[14]

आचार्य मुकुलभट्ट उपचार के दो भेद मानते हैं—शुद्धोपचार तथा गौणोपचार। सादृश्य के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग 'गौणोपचार' है; यथा

'गौर्वाहीक:' (वाहीकदेशवासी बैल है) में वाहीकदेशवासी पुरुष में 'गौ:' (बैल) के सदृश जाड्य-मान्द्य आदि गुणों का योग होने से सादृश्य-सम्बन्ध से उसके लिए 'गौ:' शब्द का व्यवहार किया गया है। सादृश्यातिरिक्त कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध के कारण अन्य के लिए अन्य के प्रयोग को 'शुद्धोपचार' कहा जाता है; यथा 'आयुर्घृतम्' (घृत आयु है) में कार्यकारणभाव सम्बन्ध से आयु के कारणभूत घृत के लिए 'आयु:' शब्द का प्रयोग किया गया है।[15] इस प्रकार आचार्य मुकुलभट्ट की दृष्टि से लक्ष्य तथा लक्षक में दो ही प्रकार के सम्बन्ध बन सकते हैं—सादृश्य-सम्बन्ध तथा सादृश्य-भिन्न कार्यकारणभाव आदि अन्य सम्बन्ध। न्यायसूत्रकार गोतम ने उपचार के सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन तथा आधिपत्य ये दश हेतु माने हैं।[16] जैमिनि ने तत्सिद्धि, जाति, सारूप्य, प्रशंसा, बाहुल्य (भूमा), लिङ्गसमवाय, वाक्यशेष तथा अर्थ से (सामर्थ्य से) कल्पना ये आठ उपचार के कारण स्वीकार किए हैं।[17] पतञ्जलि तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य तथा तत्साहचर्य इन चार सम्बन्धों को हेतु मानते हैं।[18] भर्तृहरि ने स्तुति, निन्दा आदि की प्रधानता होने पर लक्षणा को प्राय: आवश्यक माना है।[19] आचार्य भर्तृमित्र ने सम्बन्ध (सामीप्य), सादृश्य, समवाय (साहचर्य), वैपरीत्य तथा क्रियायोग इन पाँच सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा पाँच प्रकार की मानी है।[20] नागेशभट्ट ने लक्षणा के तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य, तत्साहचर्य तथा तादर्थ्य ये आधार माने हैं।[21] इसी प्रकार स्वस्वामिभाव, अवयवावयविभाव, तात्कर्म्य आदि[22] अनेक अन्य सम्बन्ध सम्भव हैं। भेदक सम्बन्धों की दृष्टि से इन समस्त सम्बन्धों को आलंकारिकों ने दो वर्गों में विभक्त किया है—सादृश्य तथा सादृश्येतर। सादृश्य-सम्बन्ध पर आधृत उपचार से युक्त लक्षणा 'गौणी' और सादृश्येतर सम्बन्धों पर आश्रित उपचार[23] से युक्त शुद्धा' कहलाती है।[24]

प्रथमत: लक्षणा के दो भेद किए जा सकते हैं—निरूढा तथा प्रयोजनवती। विश्वनाथ आदि कुछ आचार्यों ने निरूढा लक्षणा के भी शुद्धा तथा गौणी ये भेद किए हैं।[25] प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद होते हैं—शुद्धा तथा गौणी। इनमें शुद्धा के उपादान—(अजहत्स्वार्था) लक्षणा, लक्षण—(जहत्स्वार्था) लक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना ये चार उपभेद होते हैं और गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो उपभेद। इस प्रकार शुद्धा के चार तथा गौणी के दो उपभेद होते हैं; अत: प्रयोजनवती लक्षणा के कुल भेद छह बनते हैं।[26] इन भेद-प्रभेदों में से यास्कविरचित 'निरुक्त' में जिनके संकेत एवम् उदाहरण मिलते हैं उनका अधोलिखित पंक्तियों में विवेचन किया जा रहा है।

निरूढा लक्षणा

जहाँ कोई शब्द अपने मुख्यार्थ के रहते हुए भी किसी अन्य तत्सम्बद्ध अर्थ में रूढ अथवा प्रसिद्ध हो जाए वहाँ निरूढा लक्षणा होती है। नागेशभट्ट प्रयोजन के अभाव में शक्य (वाच्यार्थ) के सम्बन्ध को निरूढलक्षणा मानते हैं।[27] वस्तुत: कोई भी गौण अथवा लाक्षणिक प्रयोग किसी प्रयोजनविशेष के बिना नहीं माना जा सकता। किसी प्रयोजनविशेष ही से औपचारिक प्रयोग किया जाता है। निरूढा लक्षणा के

प्रयोगों के विषय में भी यही समझना चाहिए कि मूलत: इनके पीछे भी कोई न कोई प्रयोजन रहा है; किन्तु सुदीर्घ काल से गौण अर्थ में शब्दों का प्रयोग होते रहने से वे उन अर्थों में प्रसिद्ध किंवा रूढ हो गए हैं और प्रयोजन की प्रतीति विस्मृत एवं भ्रष्ट हो गई है।[28] यास्कविरचित 'निरुक्त' में यह लक्षणा निम्न स्थलों में समुपलभ्य है—

(1) यास्क ने 'विपरीत' अर्थ में 'प्रतिलोमम्' (1.2) तथा 'वैपरीत्य' अर्थ में 'प्रातिलोम्यम्' (1.3, पाँच बार) शब्दों का प्रयोग किया है और 'सामने' के अर्थ में 'आभिमुख्यम्' (1.3) का। 'प्रतिलोमम्' का वाच्यार्थ है 'लोम के विपरीत' (प्रतिगतं लोम:) तथा 'प्रातिलोम्यम्' का 'लोम के विपरीत होने का भाव अथवा स्थिति' (प्रतिलोमस्य भाव: प्रातिलोम्यम्); किन्तु ये शब्द प्रयोग-प्रवाह के कारण 'विपरीत' तथा 'वैपरीत्य' रूप लक्ष्यार्थ में रूढ हो गए हैं।[9] इसी प्रकार 'आभिमुख्यम्' का वाच्यार्थ है अभिमुख अर्थात् मुख को किसी (वस्तु की) ओर मोड़ने की स्थिति' (अभिगतो मुखमभिमुखं तस्य भाव: आभिमुख्यम्); किन्तु यह 'सम्मुख अथवा सामने होने की स्थिति' रूप लक्ष्यार्थ में रूढ हो गया है।[30] यहाँ यह रूढ लक्ष्यार्थ सादृश्य-सम्बन्ध पर आधृत है।

(2) यास्क के मत में दक्षिण दिशा की प्रकृति दक्षिण (दाहिना) हाथ है: "दिग्घस्तप्रकृति:" (1.7)। दक्षिण अर्थात् दाहिने हाथ की ओर पड़ने वाली दिशा को 'दक्षिण' कहा जाता है; यदि कोई पूर्वाभिमुख खड़ा हो तो उसके दाहिने हाथ पर पड़ने वाली दिशा दक्षिण होगी।[31] इस प्रकार 'दक्षिण' शब्द का मूल वाच्यार्थ 'दाहिना हाथ' है;[32] वह तत्सम्बद्ध 'दक्षिण दिशा' रूप लक्ष्यार्थ में रूढ हो गया है।

(3) 'पर्व' शब्द के अर्थ के विषय में यास्क की उक्ति है: "पर्व: पुन: पृणाते: प्रीणातेर्वा। अर्धमासपर्व। देवानस्मिन्प्रीणन्तीति। तत् प्रकृतीतरत्सन्धिसामान्यात्।" (1.20)। अर्थात् 'पर्व' √पॄ (भरना) अथवा √प्री (तृप्त करना) धातु से व्युत्पन्न है। इसका मूल अर्थ है अर्धमासपर्व, क्योंकि इस अवसर पर लोग देवों को तृप्त करते हैं। इसी के आधार पर सन्धिसामान्य के कारण अन्य पर्वों को भी 'पर्व' कहा जाता है। यास्क का तात्पर्य है कि मूलत: 'पर्व' शब्द मास के दो पक्षों की सन्धि का वाची था; किन्तु सन्धि (जोड़) की समानता के कारण अन्य सन्धियों के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। यास्क का यह कथन अयुक्त है: वस्तुत: 'पर्व' शब्द का मूलत: अर्थ 'सन्धि' है,[33] सभी सन्धियाँ 'पर्व' हैं; और सन्धिसामान्य के आधार पर यह शब्द दो पक्षों की सन्धिरूप अर्धमासपर्व के लिए रूढ हो गया है।[34]

(4) 'पाद' तथा 'पद' शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में यास्क का कथन है: "पाद: पद्यते। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृति: प्रभागपाद:। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि।" (2.7)। अर्थात् 'पाद' √पद् (जाना)[35] से निष्पन्न है; जाने के कारण अथवा मनुष्य एवं पशु-पक्षी इसकी सहायता से जाते हैं इसलिए

पैर को 'पाद' कहते हैं। पैर रखे जाने का स्थान अथवा पैर रखे जाने से समुत्पन्न चिह्न 'पद' है। प्रभाग (भागविशेष—चतुर्थ भाग) के अर्थ में प्रयुक्त 'पाद' का मूल पशु के पाद (पैर) हैं : पशु के चार पाद (पैर) होते हैं; अतः एक पाद (पैर) हुआ—चतुर्थ भाग अथवा अंश; चतुर्थ भाग के अर्थ में 'पाद' शब्द का प्रयोग[36] इसी सादृश्य के कारण होता है। यास्क मानते हैं कि शब्द आदि के अर्थ में प्रयुक्त 'पद' शब्द भी प्रभागवाची 'पाद' की समानता पर आधृत है। ऐसा मानना असमीचीन प्रतीत होता है। 'ऋग्वेद' (1।164।41) में एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टापदी तथा नवपदी शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे सुस्पष्ट है कि 'ऋग्वेद' में 'पद' का अर्थ 'शब्द' भी है, जिसे पैर के वाचक 'पद' से सम्बद्ध किया जा सकता है; शब्द किसी छन्द अथवा वाक्य के पैर-जैसे होते हैं। स्थानवाची 'पद' (यथा-क्षेत्रपद, जनपद आदि) भी √पद् (जाना) से माना जा सकता है; जहाँ जाया जाए अथवा चला जाए वह 'पद' है।

(5) यास्क 'पृश्नि' शब्द को आदित्य का वाची मानते हैं, क्योंकि वह वर्ण (रंग) से व्याप्त है : "पृश्निरादित्यो भवति। प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः।" (2।14)। वस्तुतः आदित्य 'पृश्नि' शब्द का मुख्यार्थ नहीं है। यह शब्द मूलतः शुक्ल-वर्णवाची है,[37] जो गुणगुणिभाव-सम्बन्ध से गुणी आदित्य के अर्थ में रूढ हो गया है। आदित्य इसका लक्ष्यार्थ है।[38]

(6) एक अरब संख्यावाची 'अर्बुद' के निर्वचन के प्रसंग में यास्क कहते हैं कि मूलतः 'अर्बुद' का अर्थ है 'मेघ', क्योंकि वह अर् अर्थात् अम्बु (जल) का प्रदाता है, अथवा अम्बुमान् (जलयुक्त) होता है, अथवा अम्बुमान् हो प्रकाशित होता है। जैसे मेघ वर्षा करता हुआ बड़ा हो जाता है वैसे ही 'अर्बुद' बहुत संख्येयों का बोधक होने से बड़ा है : "अर्बुदो मेघो भवति। अरणम् अम्बु। तद्दः। अम्बुमद्भवतीति वा। अम्बुमद्भातीति वा। स यथा महान् बहुर्भवति वर्षन् तदिवार्बुदम्।" (3।10)। यहाँ स्पष्ट है कि 'अर्बुद' शब्द का मुख्यार्थ 'मेघ' है, एक अरब संख्या तो उसका सादृश्याधृत लक्ष्यार्थ है। सादृश्य-सम्बन्ध ही से मेघवाची 'अर्बुद' शब्द 'एक अरब संख्या' रूप लक्ष्यार्थ में प्रसिद्ध हो गया।

(7) यास्क उष्णिक्, ककुभ् तथा पिपीलिकामध्या इन वैदिक छन्दों का निर्वचन करते हुए लिखते हैं : "उष्णिग् ··· उष्णीषिणी वेत्यौपमिकम्। ककुप् ककुभिनी भवति। पिपीलिकामध्येत्यौपमिकम्।" (7।12-13)।[39] उष्णिक् छन्द उष्णीष (पट्टी अथवा पगड़ी) से युक्त-जैसा होता है : जैसे पट्टी से लपेटा हुआ अथवा पगड़ी से युक्त भाग मोटा होता है वैसे ही उष्णिक् छन्द का उत्तरार्द्ध पूर्वार्द्ध की अपेक्षा अधिक अक्षरों से युक्त होने से बड़ा दीखता है।[40] अतः 'पट्टी' अथवा 'पगड़ी' रूप मुख्यार्थ वाला 'उष्णिक्' शब्द सादृश्य-सम्बन्ध के साहाय्य से उष्णिक् नामक छन्द के अर्थ में रूढ हो गया। ककुभ् छन्द ककुभ् (कूबड़) से युक्त-जैसा है : जैसे

ककुभ् (कूबड़) शरीर के पूर्वार्द्ध में ही होता है वैसे ही ककुभ् छन्द में पूर्वार्द्ध में अधिक अक्षर होते हैं।[41] सादृश्य-सम्बन्ध के आश्रयण से 'कूबड़' रूप वाच्यार्थ वाला 'ककुभ्' शब्द ककुभ् छन्द रूप लक्ष्यार्थ में रूढ हो गया है। पिपीलिकमध्या छन्द चींटी के मध्य भाग की भाँति होता है : जैसे दोनों सिरों की अपेक्षा चींटी का मध्य भाग पतला होता है वैसे ही इस छन्द के मध्य के पाद में अक्षर-संख्या कम होती है।[42] 'चींटी का मध्य भाग' इस वाच्यार्थ वाला 'पिपीलिकामध्या' शब्द सादृश्य-सम्बन्ध से पिपीलिकामध्या छन्द रूप लक्ष्यार्थ में रूढ अथवा प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार उष्णिक्, ककुभ् तथा पिपीलिकामध्या शब्द लाक्षणिक हैं और अपने लक्ष्यार्थ में रूढ हो गए हैं।

(४) 'इन्द्रपान' शब्द के विषय में यास्क का कथन है : "यथो एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति भक्तिमात्रं तद्भवति। यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोम-पात्राणाम्।" (8।2)। 'इन्द्रपान' शब्द मूलतः उस पात्र का वाची है जिसमें इन्द्र को सोम दिया जाता है; किन्तु वह लक्षणया उस पात्र का भी बोध कराता है जिसमें द्रविणोदाः देव को सोम प्रदान किया जाता है। इसी प्रकार 'वायव्य' शब्द मूलतः उस पात्र का वाची है जिसमें वायु के लिए सोम प्रदान किया जाता है; किन्तु भक्त्या इसका प्रयोग सभी सोमपात्रों के लिए कर दिया जाता है। 'इन्द्रपान' शब्द द्वारा 'द्रविणोदाः का सोमपात्र' और 'वायव्य' शब्द द्वारा 'समस्त सोमपात्र' रूप लक्ष्यार्थ के बोधन में रूढि ही हेतु है। सम्भवतः यहाँ अन्य अर्थ का ग्रहण सोमपान-सामान्य के कारण है।

प्रयोजनवती लक्षणा

इस लक्षणा में मूल में निहित प्रयोजनविशेष की प्रतीति स्फुट होती है। वह प्रयोग-प्रवाह के आवर्त में पड़कर तिरोहित अथवा भ्रष्ट नहीं हो पाता। इस लक्षणा में शब्द अपने लक्ष्यार्थ में प्रसिद्ध नहीं होता अपितु किसी विशेष प्रयोजन से उसका उस अर्थ में यदा-कदा किसी अवसरविशेष पर प्रयोग कर दिया जाता है। आलंकारिकों ने प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना-वृत्ति द्वारा स्वीकार की है। प्रयोजनवती लक्षणा के छह भेदों का संकेत हम ऊपर कर आए हैं। सम्प्रति इस लक्षणा के यास्क द्वारा प्रदत्त प्रयोगों का विश्लेषण करेंगे। यास्क के 'निरुक्त' में शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा के उपादान तथा लक्षण-लक्षणा उपभेदों के प्रयोग मिलते हैं। किसी पद द्वारा स्वसिद्धि-हेतु अन्य अर्थ का आक्षेप 'उपादान' और परार्थ अपना (अपने मुख्यार्थ का) समर्पण (परित्याग) 'लक्षण' कहलाता है।[43] यास्क ने अधोलिखित स्थल पर उपादान-लक्षणा का प्रयोग किया है—

(1) यास्क ने ऋग्वेद (1।113।2) के

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्याः।
समानबन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्णं चरत आमिनाने॥

इस मन्त्र में प्रयुक्त 'कृष्णा' शब्द का अर्थ 'कृष्णवर्णा रात्रि' किया है
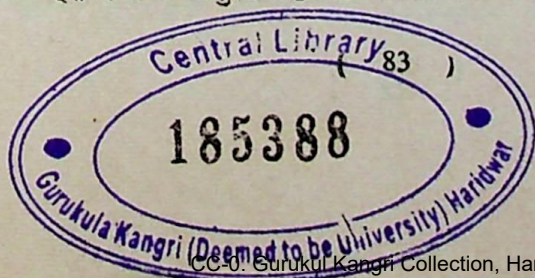
(2।20)। यहाँ योग–अथवा तत्साहचर्य–सम्बन्ध से 'कृष्णवर्णा' वाची 'कृष्णा' शब्द 'रात्रि' रूप अर्थ का उपादान करते हुए 'कृष्णवर्णा रात्रि' इस लक्ष्यार्थ में पर्यवसित हो रहा है। अन्धकार की सघनता का द्योतन यहाँ प्रयोजन है। यही स्थिति 'श्वेत्या' पद की भी है। यह मूलत: 'श्वेतवर्णा' का वाची है; किन्तु प्रस्तुत मन्त्र में योग–अथवा तत्साहचर्य–सम्बन्ध से 'श्वेतवर्णा उषा' रूप लक्ष्यार्थ में पर्यवसित हो गया है। प्रकाश की समुज्ज्वलता का द्योतन यहाँ प्रयोजन है। 'कृष्णा' तथा 'श्वेत्या' ये दोनों ही पद अपने मुख्यार्थ को सुरक्षित रखते हुए तत्सम्बद्ध अन्य अर्थ का उपादान करते हैं।

लक्षण-लक्षणा के प्रयोग के लिए निम्न स्थल द्रष्टव्य हैं—

(1) यास्क ने वृद्धिरूप भावविकार के अन्तर्गत सांयौगिक पदार्थों के कारण होने वाली वृद्धि के उदाहरण के रूप में 'वर्धते विजयेन' (विजय से बढ़ता है) वाक्य प्रस्तुत किया है (1।2)। वस्तुत: इस वाक्य में 'वर्धते' पद अपने वृद्धिरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर 'मोदते' (प्रसन्न अथवा आनन्दित होता है) रूप लक्ष्यार्थ में संक्रान्त हो जाता है। आनन्दातिरेक को यहाँ प्रयोजन माना जा सकता है। यहाँ लक्षणा क्रियायोग-सम्बन्ध पर आधृत है।

(2) यास्क ने गाय-वाची 'गो' शब्द का प्रयोग ताद्धित (तत्सम्बद्ध) दुग्ध, अधिषवणचर्म, चर्म, श्लेष्मा (सरेस), स्नाव तथा ज्या इन अर्थों में भी माना है और तदर्थ वैदिक उद्धरण प्रस्तुत किए हैं (2।5-6)। उनका कथन है कि इन अर्थों में 'गो' शब्द अकृत्स्नवाची अर्थात् अवयववाची होने पर भी कृत्स्नवाची अर्थात् अवयविवाची की भाँति प्रयुक्त होता है : "अथाप्यस्यां ताद्धितेन कृत्स्नवन्निगमा भवन्ति।" (2।5)। उदाहरणार्थ 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋग्वेद 9।46।4) में 'गो' शब्द का अर्थ गोदुग्ध; 'अंशुं दुहन्तो अध्यासते गवि' (तदेव 10।94।9) में गाय के चर्म से बना अधिषवणचर्म; 'गोभिः सन्नद्धो असि वीळयस्व' (तदेव 6।47।26; अथर्ववेद 6।125।1) में गाय का चर्म तथा श्लेष्मा (सरेस); 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' (ऋग्वेद 6।75।11; वाजसनेयि-संहिता 29।48) में गाय की स्नाव तथा श्लेष्मा; और 'वृक्षे वृक्षे नियता मीमयद् गौस्ततो वयः प्र पतान्पूरुषादः।' (ऋग्वेद 10।27।22) में गाय की आँत से बनी ज्या है। ये ताद्धित अर्थ लक्षणया गृहीत हैं। यहाँ उत्पाद्योत्पादक भाव अथवा अवयवावयविभाव सम्बन्ध से 'गो' शब्द अपने उत्पादक अथवा अवयवी रूप मुख्यार्थ को छोड़कर दुग्ध, अधिषवणचर्म, चर्म, श्लेष्मा तथा स्नाव इन उत्पाद्य अथवा अवयव रूप और विकार्यविकारिभाव सम्बन्ध से अपने विकारी रूप मुख्यार्थ को छोड़कर विकार रूप ज्या इस लक्ष्यार्थ में सक्रान्त हो गया है। गोसम्बन्ध का द्योतन यहाँ प्रयोजन कहा जा सकता है।

(3) यास्क (7।7) देवों के अपुरुषविधत्व के विवेचन के प्रसंग में कहते हैं कि

वेदों में अचेतन तथा देवों के रूप में मान्य पदार्थों का भी चेतनवत् वर्णन किया गया है और एतदर्थ उदाहरणस्वरूप ग्रावस्तुति से 'होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत' (ऋग्वेद 10।94।2) यह मन्त्रांश प्रस्तुत करते हैं, जिसका वाच्यार्थ है—'(ग्रावा) होता से भी पहले खाने योग्य हवि को खा लेते हैं।' इसमें लक्षण-लक्षणा प्रयुक्त है; यहाँ 'आशत' पद अपने 'खाते हैं' इस भक्षणरूप मुख्यार्थ को छोड़कर '(सोम-हवि से) संयुक्त होते हैं', इस संयोगरूप लक्ष्यार्थ में संक्रान्त हो जाता है,[44] क्योंकि ग्रावों में अचेतन होने के कारण चेतनप्राणिसम्पाद्य भक्षण-क्रिया की सामर्थ्य नहीं है। यहाँ लक्षणा के मूल में क्रियायोग-सम्बन्ध है। हविसंयोग का आधिक्य द्योतित कराना यहाँ प्रयोजन है।

यास्क के 'निरुक्त' में गौणी लक्षणा के अनेक उदाहरण मिलते हैं। गौणी लक्षणा के दो भेद होते हैं—सारोपा तथा साध्यवसाना। जिस अभेदारोप में विषय (आरोपविषय—उपमेय) तथा विषयी (आरोप्यमाण—उपमान) का पृथक् निर्देश हो वह 'सारोपा' और जिसमें विषय का पृथक् निर्देश न कर विषयी द्वारा उसका निगरण कराकर अभेद-स्थापना की जाए वह 'साध्यवसाना' गौणी लक्षणा होती है।[45] यास्क के 'निरुक्त' में सारोपा गौणी लक्षणा के लिए निम्न स्थल द्रष्टव्य है—

(1) यास्क का कथन है कि लुप्तोपमा वाले पद अथवा वाक्य अर्थोपमा से युक्त माने जाते हैं, अर्थात् जिन पदों अथवा वाक्यों में इवादि उपमावाचक शब्द उपात्त नहीं होते उन लुप्तोपमा वाले स्थलों में उपमाशब्द तथा उपमा (सादृश्य) अर्थतः प्रतीत होते हैं (शब्दतः नहीं); अतः वे स्थल अर्थोपमा अर्थात् अर्थ द्वारा प्रतीयमान उपमाशब्द तथा उपमा वाले होते हैं।[46] ऐसे स्थलों में 'सिंह' तथा 'व्याघ्र' शब्द उपमेय की प्रशंसा अथवा श्रेष्ठता और 'श्वा' तथा 'काक' उपमेय की निन्दा को व्यक्त करते हैं : "अथ लुप्तोपमान्यर्थोपमानीत्याचक्षते—सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम्, श्वा काक इति कुत्सायाम्।" (3।18)। यास्क ने उदाहरणस्वरूप कोई वाक्य प्रस्तुत नहीं किया है। हाँ, आचार्य दुर्ग तथा स्कन्द 'सिंह' शब्द के प्रयोगप्रदर्शनार्थ एक वाक्य देते हैं—'सिंहो देवदत्तः (देवदत्त सिंह है)। यहाँ 'सिंहः' पद उपमेय देवदत्तगत सिंहोचित शौर्यादि गुणों का आक्षेप करता है और देवदत्त के प्रशस्यभाव को व्यक्त करता है। 'व्याघ्र' शब्द के लिए 'व्याघ्रो माणवकः' (लड़का व्याघ्र है) उदाहरण दिया जा सकता है, जहाँ 'व्याघ्रः' पद उपमेयभूत माणवकगत व्याघ्रोचित शौर्यादि गुणों का आक्षेपक है। 'श्वा' तथा 'काक' शब्दों के प्रयोगप्रदर्शनार्थ आचार्य दुर्ग ने 'श्वायम्' (यह व्यक्ति कुत्ता है) तथा 'काकोऽयम्' (यह व्यक्ति कौआ है) उदाहरण दिए हैं, जिनमें 'श्वा' उपमेयभूत व्यक्तिविशेषगत श्वोचित लौल्यादिदोषों का और 'काकः' उपमेयभूत व्यक्तिविशेषगत काकोचित धार्ष्ट्यादि दोषों का आक्षेप करता है।[47] सिंह, व्याघ्र, श्वा तथा काक शब्द, जो स्वयम् उपमानभूत प्राणियों के वाचक हैं, उपमेयगत समान शौर्यादि गुणों तथा लौल्यादि एवं धार्ष्ट्यादि दोषों का आक्षेप ताद्धर्म्य-सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा ही कर सकते हैं। वस्तुतः यहाँ सारोपा गौणी लक्षणा कार्यरत है, क्योंकि यहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोपविषय

(उपमेय) दोनों ही का उपादान किया गया है। आक्षिप्त गुणों अथवा दोषों की प्रतीति इसमें प्रयोजन है।[48]

यास्क ने इस सादृश्यसम्बन्धाश्रित लक्षणा के साध्यवसाना नामक भेद का प्रयोग निम्न स्थलों पर किया है—

(1) यास्क 'अवसाय पद्वते रुद्र मृळ' (ऋग्वेद 10।169।1) में प्रयुक्त 'अवसाय पद्वते' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं : "पद्वदवसम् गावः पथ्यदनम्।" (1।17)। अर्थात् यहाँ पैर वाले अन्न का तात्पर्य है गाएँ; गाएँ (अर्थात् उनसे प्राप्य दुग्ध आदि) मार्ग का अन्न है।[49] यहाँ 'अवस' (अन्न)[50] शब्द गायों का बोध कराता है। वस्तुतः इस मन्त्रांश का 'अवस' शब्द गौणी लक्षणा के साध्यवसाना नामक भेद का उदाहरण प्रस्तुत करता है। यहाँ आरोपविषय (उपमेय) गायों पर आरोप्यमाण (उपमान) अवस (अन्न) का आरोप किया गया है और आरोप्यमाण अवस ने आरोपविषय गायों का अध्यवसान अर्थात् निगरण कर लिया है, जिसके परिणाम-स्वरूप आरोप्यमाण अवस ही का शब्दतः उपादान मन्त्र में किया गया है। इसका आधार गायों के दुग्धादि तथा अवस (अन्न) दोनों में प्राप्य (जीवन–) रक्षण-तत्त्व[51] का सादृश्य है।

(2) यास्क ने गव्येतर (गाय-बैल के अतिरिक्त अन्य किसी पशु की आँत से बनी) ज्या को भी 'गो' शब्द का अर्थ माना है : "ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत् ताद्धितम्। अथ चेन्न गव्या गमयतीषूनिति।" (2।5)। वस्तुतः गव्येतर ज्या के अर्थ में 'गो' शब्द का प्रयोग साध्यवसाना गौणी लक्षणा पर आधृत है। गव्य ज्या तथा गव्येतर ज्या दोनों में 'बाण को फेंकने में उपयोगिता' इस विशेष गुण की समानता है, जिसके आधार पर गव्येतर ज्या पर गव्य-ज्या (गो) का आरोप कर दिया जाता है; आरोप्य-माण गव्य-ज्या (गो) द्वारा आरोपविषय गव्येतर ज्या का अध्यवसान कर लिया जाता है; अतः गव्यज्यावाची 'गो' शब्द ही का प्रयोग में उपादान किया जाता है।

(3) यास्क ने 'गो' शब्द के 'आदित्य' तथा 'रश्मि' (किरण) अर्थ भी माने हैं (2।6-7)। उदाहरणार्थ 'उतादः परुषे गवि' (ऋग्वेद 6।56।3 में 'गो' का अर्थ है 'आदित्य', और 'यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः' (तदेव 1।154।6) में 'रश्मि'। वस्तुतः ये अर्थ साध्यवसाना गौणी लक्षणा से उपलभ्य हैं। द्युलोक में अपने रश्मिजाल से युक्त विचरण करता हुआ आदित्य ऐसा प्रतीत होता है जैसे गायों के समुदाय से युक्त कोई बैल (गो) विचरण कर रहा हो। यहाँ आदित्य पर बैल का तथा रश्मियों पर गायों का समारोपण है।[52] आरोप्यमाण गो (बैल) द्वारा आरोपविषय आदित्य का तथा अन्य गो (गाय) द्वारा आरोपविषय रश्मियों का निगरण किया गया है। इसमें उभयप्राप्त गमन-क्रिया का सादृश्य हेतु है।

(4) यास्क 'अहि' शब्द को 'मेघ'[53] तथा 'सर्प' दोनों अर्थों में मानते हैं : "अहिरयनात्। एत्यन्तरिक्षे। अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव। निर्ह्रसितोपसर्गः।

आहन्तीति ।" (2।17) । वस्तुतः 'अहि' का मुख्यार्थ 'सर्प' है,[54] जिससे यास्क परि-चित हैं; 'मेघ' उसका लक्ष्यार्थ है। अयन (गति) गुण के उभयगत सादृश्य के कारण सर्प का मेघ पर आरोप किया गया है, क्योंकि अन्तरिक्ष में सरकती हुइ मेघलेखा सरकते हुए सर्प-जैसी लगती है। आरोप्यमाण सर्प के आरोपविषय मेघ का निगरण कर स्वतः स्थित होने से मेघप्रसंगों में भी केवल सर्पवाची 'अहि' शब्द ही का उपादान किया जाता है, जिससे मेघ की उद्भावना लक्ष्यार्थ के रूप में कर ली जाती है। यहाँ भी साध्यवसाना गौणी लक्षणा ही की स्थिति है।

(5) यास्क अद्रि, ग्रावन्, गोत्र, अश्मन्, पर्वत, गिरि, उपर, उपल आदि को 'मेघ' तथा 'पर्वत' दोनों ही अर्थों में मानते हैं (निघण्टु 1।10; निरुक्त 2।21)। इनमें अद्रि[55], ग्रावन्[56], अश्मन्[57], उपर तथा उपल[58] शब्दों का मूलभूत अर्थ 'पत्थर' होता है; पर्वत प्रस्तर–अथवा शिला–राशि होने से इनसे बोध्य हैं। वस्तुतः अन्तरिक्ष में उड़ते हुए बृहदाकार काले-काले मेघ पर्वतसदृश लगते हैं; अतः मेघ पर सादृश्य के कारण पर्वत का आरोप कर दिया गया है। विषयी पर्वत द्वारा विषय मेघ का अध्यवसान कर लिए जाने के कारण पर्वतवाची अद्रि, ग्रावन्, गोत्र, अश्मन्, पर्वत, गिरि, उपर, उपल आदि शब्द लक्ष्यार्थ रूप मेघ का भी आक्षेप करते हैं।

(6) यास्क अवनयः, कक्ष्याः, योक्त्राणि, अभीशवः, धुरः (निघण्टु 2।5; निरुक्त 3।9), हरितः, रशनाः, सनाभयः, स्वसारः तथा जामयः (निघण्टु 2।5, शब्दों को अंगुलियों के वाचक मानते हैं। वस्तुतः 'अंगुलियाँ' इन शब्दों का वाच्यार्थ नहीं है। इनके साक्षात्संकेतित अर्थ क्रमशः नदियाँ[59], अश्वरज्जु[60], चर्म के पट्टे, लगाम, जुए[61], घोड़ियाँ, बन्धनरज्जु तथा बहिनें (सनाभयः, स्वसारः, जामयः) हैं। जहाँ अंगु-लियों के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ इन वस्तुओं का अंगुलियों पर सादृश्य की दृष्टि से आरोप किया गया है; विषयी (इन वस्तुओं) द्वारा विषय (अंगु-लियों) के अध्यवसान से अभेदारोप कर केवल इन वस्तुओं के वाची पदों का प्रयोग किया गया है, जो लक्ष्यार्थभूत अंगुलियों का स्वयम् आक्षेप कर लेते हैं। इस साध्य-वसाना गौणी लक्षणा के प्रयोग में यहाँ व्यापारसामान्य का द्योतन प्रयोजन हैं।

(7) यास्क के मतानुसार शहदवाची 'मधु' शब्द[62] 'सोम' के अर्थ में औपमिक है, अर्थात् शहदवाची 'मधु' सादृश्य के आधार पर 'सोम' का अर्थ देता है, क्योंकि तृप्ति का गुण दोनों में समान है :[63] "मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः। इदमपीतरन्म-ध्वेतस्मादेव।" (निरुक्त 4।8)। आ सिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम्। (ऋग्वेद 3।47।1) में 'मधु' सोम के लिए ही प्रयुक्त है। वस्तुतः 'मधु' शब्द जहाँ 'सोम' के लिए अकेला प्रयुक्त है वहाँ साध्यवसाना गौणी लक्षणा कार्यरत है। उपमेय सोम पर उपमान मधु (शहद) का आरोप कर दिया गया है; आरोप्यमाण मधु (शहद) ने आरोपविषय सोम को निगीर्ण कर लिया है; अतः केवल आरोप्यमाण-शहदवाची 'मधु' शब्द ही का उपादान किया गया है, जो ताद्धर्म्य-सम्बन्ध से सोम रूप लक्ष्यार्थ का आक्षेप करा देता है। तृप्तिरूप गुण की प्रतीति यहाँ प्रयोजन है।

(8) यास्क ने जलों के वर्षक देवों के लिए 'वृषभ' (4।8) तथा वृषन् (11।47) शब्दों का प्रयोग वेदों में माना है। उदाहरणार्थ 'मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिवा सोममनुष्वधं मदाय' (ऋग्वेद 3।47।1) में 'वृषभ' शब्द इन्द्र के लिए; और 'नि यत्सीं शिश्नथद्वृशा' (तदेव 4।30।10) में 'वृषन्' शब्द वायु[64] के लिए प्रयुक्त है। वस्तुतः 'वृषभ, तथा 'वृषन्' शब्दों का वाच्यार्थ 'साँड' है; वह ताद्धर्म्य-सम्बन्ध से वर्षक देव रूप लक्ष्यार्थ में भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि पृथिवी को वृष्टि से सिंचित करने वाला (इन्द्र आदि) देव गाय में रेत:सिंचन करने वाले साँड के सदृश है। दोनों में वर्षणकर्म समान है। जहाँ ये शब्द वर्षक देवों के लिए अकेले अर्थात् उपमेयभूत–देव-रहित प्रयुक्त हैं (यथा ऋग्वेद (4।30।10) वहाँ अध्यवसान के कारण साध्यवसाना गौणी लक्षणा और जहाँ देवसहित प्रयुक्त हैं (यथा ऋग्वेद 3।47।1 : इन्द्र वृषभ:) वहाँ विषयी तथा विषय दोनों के शब्दोपात्त होने से सारोपा गौणी लक्षणा है।

(9) यास्क का कथन है कि चर्मवाची 'कृत्ति' शब्द[65] औपम्य के कारण कन्था-रूप कृत्ति (वस्त्र) के लिए भी प्रयुक्त होता है (5।22)। आचार्य दुर्ग की स्पष्ट उक्ति है कि विकर्तनसामान्य के कारण चर्मरूप कृत्ति के साथ सूत्रमयी कृत्ति उपमित होती है—कृत्ति के समान कृत्ति अर्थात् कन्था।[66] इससे स्पष्ट है कि 'कृत्ति' का मुख्यार्थ 'चर्म' है और कन्थारूप कृत्ति उसका सादृश्य के आधार पर साध्यवसाना गौणी लक्षणा से ग्रहण किया जाने वाला लक्ष्यार्थ है; विषयी चर्मरूप कृत्ति द्वारा विषय कन्थारूप सूत्रमयी कृत्ति का निगरण हो जाता है और केवल प्रथम ही का उपादान किया जाता है।

(10 यास्क ने ऋग्वेद 4।85।8 (वाजसनेयि-संहिता 17।96), 1।164।47 (अथर्ववेद 6।22।1), 4।57।2 आदि में प्रयुक्त घृत' शब्द को उदकवाची माना है (7।17, 24; 10।16)। वस्तुत: 'घृत' शब्द का मुख्यार्थ 'घी' है[67], उदक (वर्षा-जल) उसका लक्ष्यार्थ है[68], जो साध्यवसाना गौणी लक्षणा द्वारा ग्रहण किया गया है। आरोप्यमाण घृत (घी) ने आरोपविषय उदक (वर्षा-जल) का निगरण कर लिया है; अत: ऐसे स्थलों पर आरोप्यमाण (घृत) ही का उपादान किया गया है। पुष्टिरूप सदृश गुण ही इसमें हेतु है : घृत जैसे खाने वाले मनुष्य को पुष्ट करता है वैसे ही वर्षा-जल ओषधियों एवं वनस्पतियों को पुष्ट करता है।

लाक्षणिक प्रयोगों के उपरिगत विश्लेषण से सुस्पष्ट है कि महामति यास्क लक्षणा-व्यापार से सुपरिचित थे, यद्यपि उन्होंने उसका स्वतन्त्र विवेचन एवम् उसके भेद-प्रभेदों का प्रतिपादन नहीं किया है। उनके समय में इस शब्द-व्यापार को 'भक्ति' कहा जाता था। यह अभिधान परवर्ती काल में भी पर्याप्त प्रचलित रहा है। कार्य-कारणभाव, उत्पाद्योत्पादकभाव, विकार्यविकारिभाव, अवयवावयविभाव, गुणगुणिभाव, योग, क्रियायोग, सादृश्य आदि सम्बन्धों के आधार पर हेतु–अथवा प्रयोजन–विशेष से किसी शब्द के साक्षात्संकेतित मुख्यार्थ के स्थान पर अथवा उससे सहकृत अन्य

तत्सम्बद्ध अर्थ का ग्रहण कर लिया जाता था। यास्क भाषा की इस प्रवृत्ति से परिचित थे। यद्यपि उन्होंने 'पृश्नि' के आदित्य; 'अवस' के गाएँ; 'गो' के आदित्य तथा रश्मि; 'अहि' के मेघ; 'अद्रि', 'ग्रावन्', 'अश्मन्', 'पर्वत', 'गिरि', 'उपर' तथा 'उपल' के मेघ; 'अवनयः', 'कक्ष्याः', 'योक्त्राणि', 'अभीशवः', 'धुरः', 'हरितः', 'रशनाः' 'सनाभयः', 'स्वसारः' तथा 'जामयः' के अंगुलियाँ; 'वृषभ' तथा 'वृषन्' के वर्षक देव; और 'घृत' के वर्षा-जल रूप लक्ष्यार्थों के पीछे निहित उपचार का विश्लेषण नहीं किया है तथापि वे उससे परिचित अवश्य रहे होंगे; उन्होंने उसे स्पष्टतः अभिव्यक्ति प्रदान नहीं की। लोकप्रयोग के कारण अपने लक्ष्यार्थ में रूढ अथवा प्रसिद्ध शब्दों के उपरिगत विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि शब्द गुणगुणिभाव आदि सम्बन्धों के अतिरिक्त सादृश्य-सम्बन्ध के आधार पर भी प्रयोजनविशेष की दृष्टि से अपने लक्ष्यार्थ मे प्रचलित हो जाते हैं। प्रयोजनवती लक्षणा में प्रयोजन प्रयोग-प्रवाह के कारण तिरोहित अथवा भ्रष्ट न होकर स्फुट एवं सरलतया बुद्धिगम्य रहता है, जबकि निरूढा लक्षणा में शब्द के अपने लक्ष्यार्थ में सुदीर्घ काल से प्रयुक्त होते रहने के कारण उसके बोध की आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती और वह क्रमशः दृष्टि से ओझल हो जाता है। प्रयोजनवती लक्षणा में शब्द अपने लक्ष्यार्थ में प्रयोजनविशेष के उद्देश्य से यदा-कदा किसी अवसरविशेष पर ही प्रयुक्त होता है, उसमें प्रयोग-प्रवाह से रूढ अथवा प्रसिद्ध एवं प्रचलित नहीं होता। प्रयोग-प्रवाह निरूढा तथा प्रयोजनवती लक्षणा का भेदक तत्त्व माना जा सकता है। भाषा के अर्थ-विकास में लक्षणा-वृत्ति ने अत्यधिक योग दिया है।

टिप्पणियाँ

1. द्रष्टव्य विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली (वाराणसीः चौखम्बा विद्याभवन, सं० हरिराम शुक्ल, तृतीय सस्करण, 1972), शब्द-खण्ड, पृ० 285: लक्षण शक्यसम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तितः। प्रायः आलंकारिकों ने लक्षणाश्रयण के कारण का निर्देश न करते हुए लक्षणा-प्रक्रिया ही का विवेचन किया है। उदाहरणार्थ आचार्य मम्मट-कृत लक्षणा-लक्षण है—

   मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
   अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥

   (काव्यप्रकाश 2।9)

   अन्य आचार्यों ने भी प्रायः इसी प्रकार का लक्षण किया है। यथा विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 2।5; हेमचन्द्र, काव्यानुशासन (बम्बई: श्री महावीर जैन विद्यालय, सं० रसिकलाल छोटालाल परिख तथा बी० एम० कुलकर्णी, द्वितीय संस्करण), पृ० 58, 66। यहाँ 'मुख्यार्थबाधे' में 'बाध' का आशय माणिक्यचन्द्र आदि ने अनुपपत्ति तथा अनुपयोग माना है (द्रष्टव्य काव्य-प्रकाश–संकेत, पूनाः आनन्दाश्रम ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक 89,1921, पृ० 16:

मुख्यार्थस्यानुपपत्तेरनुपयोगाच्च प्रत्यक्षादिप्रमाणेन बाधे मुख्यार्थेन सह…), जो अयुक्त है, क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओं अर्थात् कौओं के साथ-साथ दही खराब करने वाले सभी प्राणियों से दही की रक्षा करो) आदि उपादान अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा के उदाहरणों में मुख्यार्थ की अनुपपत्ति तथा अनुपयोग नहीं होता। वस्तुतः 'बाध' का अभिप्राय यहाँ वक्तृतात्पर्याविषयत्व (वक्ता के तात्पर्य का विषय न होना) लिया जाना चाहिए।

2. साक्षात्संकेतित अर्थ शक्तिग्रह के कारण आता है। शक्तिग्रह के हेतु ये माने गए हैं--व्याकरण, कोश, उपमान (उपमा), आप्तोक्ति (आप्तवाक्य), व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति तथा सिद्ध पद का सान्निध्य। द्रष्टव्य केशवमिश्र (अलंकार शेखर, बम्बई : काव्यमाला 50, 1926, मरीचि 3, पृ० 9) द्वारा उद्धृत यह कारिका—

   कोशव्याकरणाप्तोक्तिवाक्यशेषोपमादितः।
   प्रसिद्धपदसम्बन्धाद् व्यवहाराच्च बुध्यते॥

   इनका संग्रह निम्नकारिका में भी उपलभ्य है--

   शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
   वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

3. न्यायग्रन्थों में 'तात्पर्य' का लक्षण 'वक्ता की इच्छा' के रूप में किया गया है; यथा विश्वनाथ पञ्चानन भट्टाचार्य, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, शब्दखण्ड, पृ० 315 : वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यम्। वस्तुतः, जैसा कि न्यायग्रन्थों में 'तात्पर्य' के स्वरूप-विवेचन से सुतराम् स्पष्ट है, 'तात्पर्य' वक्ता की इच्छामात्र नहीं अपितु उसके द्वारा अभीप्सित अर्थ है। द्रष्टव्य तदेव, शब्दखण्ड, पृ० 315-17; सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे, "Meaning, Use and Intention", **Indian Philosophical Review**, 1971, न० 1

4. तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाना चाहिए, अन्वयानुपपत्ति को नहीं। अन्वयानुपपत्ति की स्थिति ही में लक्षणा मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' आदि वाक्यों में लक्षणा का उत्थान ही नहीं होगा, क्योंकि यहाँ अन्वय भी अभीष्ट है। द्रष्टव्य नागेशभट्ट, वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा (कुरुक्षेत्र: कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय प्रकाशन, सं० कपिलदेव शास्त्री, 1975), पृ० 68 : वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ 'घोष' आदिपदे मकरादिलक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। 'गङ्गायां पापी गच्छति' इत्यादौ 'गङ्गा'—पदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माकं तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्न दोषः। "नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्" इत्यत्र अन्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्वीकारात्। धर्मराजाध्वरीन्द्र, वेदान्तपरिभाषा (वाराणसी : विद्या-

भवन संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 100, सं० गजानन शास्त्रीमुसलगांवकर, प्रथम संस्करण, संवत् 2020), आगमपरिच्छेद, पृ० 215 : लक्षणाबीज तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव न त्वन्वयानुपपत्तिः । 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र अन्वयानुपपत्तेरभावात् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात् । पण्डितराज जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, आनन 2 (वाराणसी : विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक 11, सं० मदनमोहन झा, भाग 2, द्वितीय संस्करण, 1969), पृ० 162 : तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थविच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम् । शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात् । किं तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढ़िप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम् । मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात् ।

5. द्रष्टव्य निरुक्त 8/2 : यथो एतत्तेषां पुनः पात्रस्येन्द्रपानमिति भवतीति भक्तिमात्रं तद् भवति । यथा वायव्यानीति सर्वेषां सोमपात्राणाम् । 8/22 : आग्नेया इति स्थितिः । भक्तिमात्रमितरत् ।

6. तुलना कीजिये वामन, काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, 1/1/1 की वृत्ति : काव्यशब्दोऽयं गुणालङ्कारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते । भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते । ध्वन्यालोक (मद्रास : कुप्पुस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, अभिनवगुप्तरचित 'लोचन', उत्तुङ्गोदयकृत 'कौमुदी' तथा कुप्पुस्वामी शास्त्री द्वारा विरचित 'उपलोचन' सहित, सं० महामहोपाध्याय एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री तथा टी० आर० चिन्तामणि, उद्द्योत 1, 1944) 1/1; 1/14 तथा उसकी आनन्दवर्धनकृत प्रस्तावना एवं वृत्ति, पृ० 259-62 ।

   द्रष्टव्य अभिनवगुप्त, लोचन, ध्वन्यालोक 1/1, पृ० 62-63 : भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्षत इति भक्तिर्धर्मः, अभिधेयेन सामीप्यादिः; तत आगतो भाक्तः लाक्षणिकोऽर्थः । ···गुणसमुदायवृत्तेश्च शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः ; तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः । यास्क अभिधा-वृत्ति से भी परिचित हैं । उनका कथन है कि लोक में व्यवहार की सिद्धि के निमित्त छोटा होने से शब्द द्वारा पदार्थों का संज्ञाकरण करते हैं : व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके । (निरुक्त 1/2) । संज्ञाकरण यहाँ संकेतग्रहण ही के लिए है (द्रष्टव्य पं० शिवनारायण शास्त्री, निरुक्तमीमांसा, दिल्ली, 2026 वि०, पृ० 446) ।

7. द्रष्टव्य आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक 1/17 क की वृत्ति, पृ० 259 : उपचारमात्रं तु भक्तिः । पृ० 261-62 : यत्र हि व्यञ्जकत्वकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते ।

8. न्यायसूत्र (कलकत्ता : सं० जीवानन्द विद्यासागर, चतुर्थ संस्करण, 1919) 2/2/64 : ···अतद्भावेऽपि तदुपचारः। द्रष्टव्य वात्स्यायन-भाष्य : अतद्-भावेऽपि तदुपचार इति, अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति। द्रष्टव्य न्यायसूत्र 2/2/61-63 ; वात्स्यायन-भाष्य, 2/2/63 की भूमिका : यदि न व्यक्तिः पदार्थः, कथं तर्हि व्यक्तावुपचार इति निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः खलु दृश्यते। वस्तुतः 'उपचार' शब्द का मूल अर्थ 'शब्द-प्रयोग' था। यास्क ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है (द्रष्टव्य निरुक्त 1/4 : नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायामुभयमन्वध्यायम् ··· पुरस्तादुपचारस्तस्य यत् प्रतिषेधति। 'दुर्मदासो न सुरायाम्' (ऋग्वेद 8/2/12) इत्युपमार्थीय उपरिष्टादुपचारस्तस्य येनोपमिमीते।)। 'गौण अर्थ में शब्दप्रयोग' उसका विकसित अर्थ है।
9. न्यायवार्त्तिक 2/2/61 : निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः। ··· यथा यष्टिका-शब्देन द्रव्यविशेषोऽभिधीयते इति यष्टिकाशब्दात्तु पुनः साहचर्याद् ब्राह्मण-विशेषोऽभिधीयते। ··· किं पुनरत्रोपचारबीज यष्टिका ब्राह्मण इति। ···यष्टिकायां तावदयं यष्टिकाशब्दा जातिनिमित्तः यष्टिकात्वं जातिः सा यष्टिकायां वर्तते तया यष्टिकात्वयुक्तया यष्टिकया ब्राह्मणस्य योगः साह-चर्यात् संयुक्तसमवेतां जातिं ब्राह्मणेऽध्यारोप्य ब्राह्मणं यष्टिकेत्याह। एवं शेषाण्युपचारबीजानि स्वयमुत्प्रेक्षणीयानि।
10. अभिधावृत्तिमातृका, पृ० 7-8।
11. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक 1/17 पर लोचन, पृ० 260 : उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः।
12. द्रष्टव्य ध्वन्यालोक 1/17 पर कौमुदी, पृ० 260 : उपचरणमिति। यस्मिन्नर्थे येन शब्देन व्यवहारः प्रसिद्धतमः तमतिलङ्घ्यान्यस्मिन् समीपस्थे कथंचित्त-च्छब्दप्रवृत्तिद्वारको यो व्यवहारः स उपचारः गौणलाक्षणिकयोरर्थयोरपि अवशिष्ट एवेति उपचारशब्देन तदुभयसंग्रहो युक्त इत्यर्थः।
13. मम्मट, काव्यप्रकाश (पूना : भाण्डारकर प्राच्यविद्या-संशोधन-संस्थान, सं० आर० डी० करमरकर, वामनाचार्य रामभट्ट झलकीकर-कृत बालबोधिनी टीका सहित, 1950), उल्लास 2, पृ० 46 : उपचारेणामिश्रितत्वात् ; विश्व-नाथ, काव्यप्रकाशदर्पण ; साहित्यदर्पण (वाराणसी : विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला 29, सं० सत्यव्रत सिंह, 1957), परिच्छेद 2, पृ० 66 : उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीति-स्थगनमात्रम् ; खुश्फहम् सिद्धिचन्द्र गणि, काव्यप्रकाशखण्डन (बम्बई : सिन्धी जैनशास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्याभवन, सं० रसिकलाल छोटालाल परिख, 1953), उल्लास 2, पृ० 8 : उपचारश्च सादृश्येन सम्बन्धेन प्रवृत्तः भिन्न-त्वेन प्रतीयमानयोरैक्यारोपणमिति वा ; माणिक्यचन्द्र, काव्यप्रकाश-संकेत

(पूना : आनन्दाश्रम-ग्रन्थावलि, ग्रन्थांक 89, 1921), पृ० 19 ; गोविन्द, काव्य प्रदीप (वम्बई : काव्यमाला 24, तृतीय संस्करण, 1933), पृ० 30 : उपचारश्च सादृश्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिः । सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नता-प्रतीतिस्थगनं वा ।

मम्मट आदि आचार्यों के विपरीत, एकावलीकार विद्याधर सादृश्यातिरिक्त सभी सम्बन्धों को उपचार के अन्तर्गत मानते हैं। उनके अनुसार गौणी लक्षणा में सादृश्य तो होता है (द्रष्टव्य एकावली, सं० के० पी० त्रिवेदी, पृ० 8 : तत्र गौणी गुणव्यापारात् सादृश्यात्प्रवर्तते ।) ; किन्तु उसके मूल में उपचार नहीं होता । विद्याधर के मत में उपचार कार्यकारण, तादर्थ्य, स्वस्वामी, अवयवावयवी तथा तात्कर्म्य इन पाँच प्रकार के सम्बन्धों पर आधृत होता है । टीकाकार मल्लिनाथ के अनुसार उपचार अतत्त्व का तत्त्वेन व्यपदेश है : अतत्त्वस्य तत्त्वेन व्यपदेश उपचारः, अर्थात् किसी वस्तु पर ऐसा गुण आरोपित कर देना जो वस्तुतः उससे सम्बद्ध न हो 'उपचार' है । द्रष्टव्य हरदत्त शर्मा, "The Meaning of उपचार according to Gotama and the Rhetoricians," The Poona Orientalist, भाग 1, खण्ड 1, एप्रिल 1936, पृ० 32-33 ।

14. काव्यप्रकाश, उल्लास 2, पृ० 53 : क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः । आचार्य मम्मट द्वारा 'उपचार' शब्द का दो नितान्त अर्थों में प्रयोग चिन्त्य है ।

15. द्रष्टव्य अभिधावृत्तिमातृका, पृ० 7-8 : द्विविध उपचारः शुद्धो गौणश्च । तत्र शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोग-लक्षणासम्भवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तर-मुपचर्यते । यथा 'आयुर्घृतम्' इति। अत्र ह्यायुषः कारणे घृते 'तद्गतकार्य-कारणभावलक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्वकार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम् । तस्मा-च्छुद्धोऽयमुपचारः ।

गौणः पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमान-गतगुणसदृशगुणयोगलक्षणां पुरःसरीकृत्योपमेये उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्या-रोप्यते । स हि गुणेभ्य आगतत्वाद् गौणशब्देनाभिधीयते । यथा 'गौर्वाहीकः' इति । अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगाद् वाहीके गोशब्दगोत्वयोरुपचारः ।

केचित्तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम् । तदयुक्तम् । शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात् । एवमयमुपचारः शुद्धगौणभेदेन द्विविधोऽभिहितः ।

16. न्यायसूत्र 2/2/64 : सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधि-पत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदु-पचारः । द्रष्टव्य वात्स्यायन भाष्य : अतद्भावेऽपि तदुपचार इति—अतच्छ-

ब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति । सहचरणात्—यष्टिकां भोजयेति, यष्टिका-सहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते । स्थानात् — मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते । तादर्थ्यात्-कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु कटं करोतीति भवति । वृत्ताद्—यमो राजा कुबेरो राजेति तद्वद्वर्तत इति । मानाद्—आढकेन मिताः सक्तवः आढकसक्तव इति । धारणात्–तुलायां धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति । सामीप्याद्–गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्टः । योगात्–कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते । साधनात्–अन्नं प्राणा इति । आधिपत्यात्–अयं पुरुषः कुलम् अयं गोत्रमिति । तत्रायं सहचरणाद्योगाद् वा जातिशब्दो व्यक्तौ प्रयुज्यत इति ।

17. मीमांसा सूत्र 1।4।23-30, द्रष्टव्य शबर-भाष्य; वासुदेव दीक्षित, मीमांसा-कुतूहलवृत्ति 1।4।19-21 (दिल्ली : श्रीलालबहादुर राष्ट्रिय संस्कृत-विद्यापीठ, सं० पट्टाभिराम शास्त्री, 1968-69), भाग 1, पृ० 137-46 ।

18. महाभाष्य 4।1।48 : चतुर्भिः प्रकारैरतस्मिन् 'सः' इत्येतद् भवति-तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति । तात्स्थ्यात् — मञ्चा हसन्ति, गिरिर्दह्यते । ताद्धर्म्यात्—जटिनं यान्तं ब्रह्मदत्त इत्याह । ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते । तत्सामीप्याद्—गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकूलम् । तत्साहचर्याद्—कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशयेति । द्रष्टव्य कैयट, प्रदीप : आरोप्यते ताद्रूप्यम्, न तु मुख्यमित्यर्थः ।

19. वाक्यपदीय (पूना : पुण्यपत्तन विद्यापीठ संस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थमाला, ग्रन्थ 2, सं० काशिनाथ वासुदेव अभ्यंकर तथा विष्णु प्रभाकर लिमये, 1965), 2।247 :

स्तुतिनिन्दाप्रधानेषु वाक्येष्वर्थो न तादृशः ।
पदानां प्रविभागेन यादृशः परिकल्प्यते ॥

20. मुकुलभट्ट द्वारा अभिधावृत्तिमातृका (पृ० 17) तथा माणिक्यचन्द्र द्वारा काव्यप्रकाश की अपनी 'संकेत' नाम्नी टीका (पृ० 17) में उद्धृत :

अभिधेयेन सम्बन्धात्सादृश्यात्समवायतः ।
वैपरीत्यात्क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता ॥

द्रष्टव्य माणिक्यचन्द्रकृत 'संकेत' भी ।

21. पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, लक्षणानिरूपण, पृ० ६७ : सा च लक्षणा तात्स्थ्यादि-निमित्तका । तदाह —

तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च ।
तत्साहचर्यात् तादर्थ्याज्ज्ञेया वै लक्षणा बुधैः ॥

तात्स्थ्यात्—'मञ्चा हसन्ति', 'ग्रामः पलायितः'। ताद्धर्म्यात्—'सिंहो माणवकः', 'गौर्वाहीकः'। तत्सामीप्यात्—'गङ्गायां घोषः'। तत्साहचर्यात्—'यष्टीः प्रवेशय'। तादर्थ्यात्—'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः।'

22. द्रष्टव्य काव्यप्रकाश, उल्लास 2, पृ० 51-53।

23. यहाँ 'उपचार' शब्द आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, माणिक्यचन्द्र, गोविन्द, खुश्फहम् सिद्धिचन्द्रगणि द्वारा माने गए अर्थ से भिन्न उपरिसंकेतित पारम्परिक अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

24. द्रष्टव्य मम्मट, काव्यप्रकाश 2।12; विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 2।9-10; पण्डितराज जगन्नाथ, रसगङ्गाधर, आनन 2, पृ० 167 (भाग 2)। कुमारिलभट्ट (तन्त्रवार्त्तिक, 354) ने अभिधेयार्थ से अविनाभावसम्बन्धपूर्वक अर्थान्तर की प्रतीति को लक्षणा और जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति लक्ष्यमाण गुणों के योग के कारण होती है उस वृत्ति को गौणी माना है—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥

भर्तृहरि (वाक्यपदीय 2।273) भी गौण अर्थ के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं—

जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते।
सम्बन्धिसदृशाद्धर्मात्तं गौणमपरे विदुः॥

उद्भट ने इस गुणवृत्ति की दृष्टि से रूपक का लक्षण किया है : ···गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्। (काव्यालङ्कारसारसंग्रह 1।11)। हेमचन्द्र तथा भोज ने कुमारिलभट्ट का अनुसरण करते हुए लक्ष्य तथा गौण अर्थ को पृथक्-पृथक् लक्षित किया है (हेमचन्द्र, काव्यानुशासन 1।17-18 : मुख्यार्थबाधे निमित्ते प्रयोजने च भेदाभेदाभ्यामारोपितो गौणः। मुख्यार्थसम्बन्धस्तत्त्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः। भोजदेव, शृङ्गारप्रकाश (मैसूर : सं० जी० आर० जोस्येर, भाग 1, 1955), प्रकाश 7, पृ० 223:···शब्दस्यार्थाभिधायिनी शक्तिरभिधा। तया स्वरूप इवाभिधेये प्रवर्तमानः शब्दो वृत्तित्रयेण वर्तते, ताश्च मुख्या गौणी लक्षणेति तिस्रः। तत्र साक्षादव्यवहितार्थाभिधायिका मुख्या। गम्यमानशौर्यादिगुणयोगव्यवहितार्था गौणी। स्वार्थाविनाभूतार्थान्तरोपलक्षणा तु लक्षणेति। तथाहि, गौरित्ययं शब्दो मुख्या वृत्त्या सास्नादिमन्तमर्थं प्रयिपादयति, स एव तिष्ठन्मूत्रादिगुणसम्पदमपेक्षमाणो यदा वाहीके वर्तते तदा गौणीं वृत्तिमनुवदति।···यदा तु शब्दः स्वार्थतः क्रियासिद्धौ साधनभावं गन्तुमसमर्थस्तदाभिधेयाविनाभूतमर्थान्तरं लक्षयति। तदा सा च लक्षणा वृत्तिः। यथा गङ्गायां घोषः प्रतिवसति। अत्र गङ्गाशब्दो विशिष्टोदकप्रवाहे निरूढाभिधानशक्तिः। स च घोषकर्तृकायाः प्रतिवसन-

क्रियाया अधिकरणभावं गन्तुमसमर्थः स्वार्थाविनाभूतं तटं लक्षयति)। इतर आलंकारिकों ने लक्षणा तथा गुणवृत्ति का अन्तर्भाव लक्षणा के दो भेदों शुद्धा तथा गौणी में कर लिया है। द्रष्टव्य विद्यानाथ, प्रतापरुद्रीय (ट्रिप्लीकेन, मद्रास : श्री बालमनोरमा सिरीज नं० 3, सं० एस० चन्द्रशेखर शास्त्रिगल, मल्लिनाथपुत्र कुमारस्वामी कृत 'रत्नापण' सहित, 1924), काव्यप्रकरण, पृ० 33 : गौणवृत्तिरपि लक्षणाप्रभेद एव। सम्बन्धानुपपत्तिमूलकत्वात्।

25. तुलना कीजिए पण्डितराज जगन्नाथ, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, आनन 2, पृ० 167 (भाग 2) : निरूढायामपि गौणीत्वशुद्धात्वाभ्यां द्वैविध्यमामनन्ति।

26. लक्षणा के भेद-प्रभेदों के विषय में मतवैभिन्य है। सुविधा की दृष्टि से हम यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ के वर्गीकरण का अनुसरण कर रहे हैं।

27. वैयाकरणपरमलघुमञ्जूषा, लक्षणानिरूपण, पृ० 74 : असति प्रयोजने शक्यसम्बन्धो निरूढलक्षणा। नागेशभट्ट का विचार है कि निरूढा लक्षणा तथा शक्ति (अभिधा) में कोई अन्तर नहीं है (तदेव, पृ० 74 : इयं शक्त्यपरपर्यायैवेति बोध्यम्।), क्योंकि जिस प्रकार कोई शब्द अपनी अभिधाशक्ति से अनादितात्पर्यवश किसी अर्थ का बोध कराता है उसी प्रकार निरूढा लक्षणा द्वारा भी अनादितात्पर्यवश ही शब्द उन-उन अर्थों को प्रकट करता है; जैसे 'त्वचा ज्ञातम्' (त्वक् से जान लिया) में 'त्वचा' शब्द निरूढलक्षणा से 'त्वगिन्द्रिय' का अर्थ देता है; त्वक् शब्द जिस प्रकार 'चर्म' अर्थ में प्रसिद्ध है उसी प्रकार 'चर्मेन्द्रिय' अर्थ में भी है। अत: निरूढा लक्षणा को अभिधा ही का पर्याय समझना चाहिए। काव्यप्रकाशसंकेतकार माणिक्यचन्द्र भी निरूढा लक्षणा को अभिधाव्यापारतुल्या मानते हैं : रूढितस्तु या लक्षणा सा लोके प्राचुर्यं गतेति न तस्या नैयत्यम्। अभिधाव्यापारतुल्यैवासाविति भावः।" (पृ० 19)।

28. कदाचित् यही बात माणिक्यचन्द्र (काव्यप्रकाश-संकेत, पृ० 17) भी कहना चाहते हैं : निरूढा इति भ्रष्टोपचारप्रतीतयः। उदाहरणार्थ 'कर्मणि कुशलः' में मूलतः प्रयोजन विवेचकत्वातिशय का द्योतन था। इसी प्रकार यास्क के कुछ प्रयोगों में प्रयोजन की अनुभूति की जा सकती है।

29. तुलना कीजिए राधाकान्तदेव, शब्दकल्पद्रुम (वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत-ग्रन्थमाला, ग्रन्थ-संख्या 93, तृतीय संस्करण, 1967), भाग 3, पृ० 263; तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, वाचस्पत्यम् (वाराणसी : चौखम्बा संस्कृत-ग्रन्थमाला, ग्रन्थसंख्या 94, तृतीय संस्करण, 1969), भाग 6, पृ० 4450।

30. तुलना कीजिए राधाकान्तदेव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 74; तारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग 1, पृ० 296।

31. आचार्य दुर्ग (निरुक्त 1।7 पर वृत्ति, सं० वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े, आनन्दाश्रमग्रन्थावलि, ग्रन्थांक 88, पूना, 1921, भाग 1) का कथन है कि पूर्वाभिमुख प्रजापति के दक्षिण हस्त की ओर की दिशा दक्षिण बन गई; प्राङ्मुखस्य प्रजापतेर्यतो दक्षिणो हम्तो बभूव सा दक्षिणा दिगभवत्।
32. तुलना कीजिए संस्कृत दक्षिण; लैटिन dexter (दाहिना); लिथुआनियन desine (दाहिना हाथ)।
33. तुलना कीजिए संस्कृत पर्वन्; भारोपीय per- (गाँठ); ग्रीक peire nante (गाँठ से दृढ करना)।
34. द्रष्टव्य वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े, Yaska's Nirukta, भाग 1 (पूना : गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सिरीज, वर्ग ए, स० 7, भाण्डारकर प्राच्यविद्या-संशोधन संस्थान, 1940), टिप्पण, पृ० 292।
35. धा० 4।63: पद गतौ।
36. तुलना कीजिए अमरकोश 2।9।89 : अंश: तुरीय: पाद:।
37. तुलना कीजिए राधाकान्तदेव, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग 3, पृ० 230; ऋग्वेद 1।160।3 : धेनुं च पृश्निं; 1।84।11: प्रश्नय: धेनव:; 9।83।3: पृश्निरग्रिय उक्षा; 10।189।1: आय गौ: पृश्निरक्रमीद् (गौ:=आदित्य); 1।164।43: उक्षाणं पृश्निमपचन्त वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भूमिका, पृ० 38; टिप्पण, वीरा:। पृ० 361—62) 'पृश्नि' का अर्थ 'लाल रंग' मानते हैं।
38. आदित्य के अर्थ में इस शब्द के प्रयोगहेतु द्रष्टव्य ऋग्वेद 4।3।10; 5।43।3; 9।83।3; 10।189।1।
39. तुलना कीजिए सामवेदीय देवताध्याय-ब्राह्मण 3।4 : उष्णिग्‥ अपि वोष्णी-षिणीवेत्यौपमिकम्; 3।5: ककुत् ककुद्रूपिणीत्यौपमिकम्; 3।10: पिपीलिका-मध्येत्यौपमिकम्।
40. द्रष्टव्य जैमिनीय-ब्राह्मण 1।159: उष्णिहो जघनार्धेऽक्षराणि भूयिष्ठानि।
41. द्रष्टव्य तदेव 1।159: ककुभ: पूर्वार्धेऽक्षराणि भूयिष्ठानि।
42. द्रष्टव्य कात्यायन, ऋक्सर्वानुक्रमणी 5।6, 6।4, 7।7; पिंगल, छन्द:सूत्र 3।57: त्रिपादाणिष्ठमध्या पिपीलिकमध्या हलायुध : यदाद्यन्तौ पादौ बह्वक्षरौ, मध्यमोऽल्पतराक्षर: तदाणिष्ठमध्या सती पिपीलिकमध्या नाम भवति।)
43. द्रष्टव्य मम्मट, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, 2।10

    स्वसिद्धये पराक्षेप: परार्थं स्वसमर्पणम्।
    उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥

तुलना कीजिए विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 2।6-7। उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा ही के अपर अभिधान अजहत्स्वार्था लक्षणा तथा जहत्स्वार्था लक्षणा हैं। कुछ वेदान्ती जहदजहल्लक्षणा अथवा भागलक्षणा भी मानते हैं। उसके

खण्डनहेतु द्रष्टव्य नागेशभट्ट, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, लक्षणानिरूपण, पृ० 69-71.

44. द्रष्टव्य दुर्ग-वृत्ति, भाग 2, पृ० 653 : अभिषवे सामसंयोगमात्रमशनमुपचर्यते ग्राव्णाम् । ... न हि ग्राव्णां यथाभूतान्यास्यानि सन्ति यत्संयोगेन च स्तूयन्ते ।
45. द्रष्टव्य मम्मट, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, 2।11; विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 2।8-9; पण्डितराज जगन्नाथ, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, भाग 2, आनन 2, पृ० 168 : विषय-विषयिणोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः । अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम् । तत्राद्येन सहिता सारोपा । द्वितीयेन तु साध्यवसाना ।
46. आचार्य दुर्ग ऐसे स्थलों में उपमाशब्दों का अवगमन अर्थतः मानते हैं : तेषु वक्तुरभिप्रायगता एत एवोपमाशब्दा अर्थतो लिङ्ग्यन्त इत्यर्थोपमा इत्युच्यन्ते । ...तदभिधानीयं वाक्यं कृत्वोपमाशब्दानामिवादीनामनुच्चारयन्नेवं ब्रवीति 'सिंहो देवदत्त' इति । यत्तदनुच्चारणमुपमाशब्दस्य स एव लोप इत्युच्यते । आचार्य स्कन्द ऐसे स्थलों में उपमा (सादृश्य) की प्रतीति अर्थतः मानते हैं : अथ किमिदमर्थोपमानीति ? अर्थवद्वाक्यसामर्थ्यादसत्युपमाशब्देऽपि यषूपमा प्रतीयते तान्यर्थोपमानि । अथवा—अर्थ एवोपमा येषु तानि । अन्ततोगत्वा तो उपमाशब्दों से भी उपमा ही की प्रतीति होती है ।
47. द्रष्टव्य दुर्ग-वृत्ति तथा स्कन्द-भाष्य ।
48. द्रष्टव्य साध्यवसाना गौणी लक्षणा के अन्तर्गत अनुच्छेद 8 भी ।
49. द्रष्टव्य स्कन्द-भाष्य : गावः च 'पथ्यदनम्', तत्सम्भवस्य पय आदेः पथ्यद्यमानत्वात् । वस्तुतः पय आदि मार्ग ही में नहीं अपितु सर्वत्र अन्न रूप है ।
50. निघण्टु में 'अवस्' शब्द अन्न (2।7।9) तथा 'अविष्यन्' शब्द 'अत्ति' (2।8।6) के पर्यायों में पठित है । 'अन्न' अर्थ में 'अवस्' शब्द के प्रयोगार्थ द्रष्टव्य ऋग्वेद 1।93।4 : यदमुष्णीतमवसं पणिं गाः; 1।119।6 : युवं शंयोरवस पिप्यथुर्गवि; 6।61।1 : या शश्वन्तमाचखादावसं पणिं । वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, टिप्पण, पृ० 277) इसका अर्थ प्राणरक्षक तत्त्व (Subsistence) मानते हैं ।
51. 'अवस्' का अर्थ 'रक्षण' भी है । द्रष्टव्य निरुक्त 2।24,25; 10।33; 12।21 ।
52. ऋग्वेद (1।154।6) में विविधवर्णयुक्त तथा गमनशील रश्मियों को विविध-शृंगयुक्त तथा संचरणशील गायों से उपमित किया गया है :
    यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
53. 'वृत्र' तथा 'अहि' दोनों मेघवाची हैं । द्रष्टव्य निरुक्त 2।17 : तत्को वृत्रः । मेघ इति नैरुक्ताः । अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणा वर्षकर्म जायते । तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति । अहिवत्तु खलु मन्त्रवर्णा ब्राह्मणवादाश्च ।
54. तुलना कीजिए संस्कृत 'अहि'; भारोपीय angu (h) i—(सर्प); लिथुआनियन angis (सर्प) ।

55. तुलना कीजिए संस्कृत 'अद्रि'; भारोपीय nd, ond (पत्थर); मध्य आयरिश ond (पत्थर)।

56. तुलना कीजिए संस्कृत 'ग्रावन्'; भारोपीय gu (e)ra (भारी); वेल्श beruan (चक्की का पत्थर)। ग्रावन्=भारी पत्थर?

57. तुलना कीजिए संस्कृत 'अश्मन्'; भारोपीय ak—(तीक्ष्ण); ग्रीक a'kmon (बृहत् लौहपिण्ड)। अश्मन्=बृहत् पत्थर अथवा शिला?

58 'उपर' तथा 'उपल' में र/ल ध्वनियों का अन्तर अर्थान्तरकारक नहीं है। दोनों का मूल अर्थ 'पत्थर' ही है। 'उपल' के प्रयोगार्थ द्रष्टव्य ऋग्वेद 9।112।3: कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

59. तुलना कीजिए संस्कृत 'अवनि'; भारोपीय aue (गीला करना); लेट्टिश avuots (उत्स, स्रोत)। 'अवनि' का प्रयोग ऋग्वेद में 15 बार हुआ है, जिनमें 12 स्थानों पर इसका अर्थ 'नदी' है। द्रष्टव्य वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, टिप्पण, पृ० 452-53 (भूमिका, पृ० 38 पर वे इसका अर्थ 'रथ' करते हैं!)।

60. वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े (पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, टिप्पण, पृ० 453) ने 'कक्ष्या' का अर्थ 'अश्व का आवरण' (a mantle that covers a horse's body, a caparison) किया है। एतदर्थ उन्होंने ऋग्वेद 1।10।3; 1।173।6; 7।104।6; 8।3।22; 10।10।13 तथा 10।101।10) को उद्धृत किया है।

61. यास्क 'धूर' को √धूर्व् (आहत करना) से मानते हैं: धूर्धूर्वतेर्वधकर्मणः। इयमपीतरा धूरेतस्मादेव। (निरुक्त 3।9)। एलोइस वाल्दे तथा जुलिअस पोकोर्नी (Vergleichensdes Worterbuch der Indo-germanischen Sprachen, बर्लिन एवं लाइपत्सिश, 1930) ने 'धुरा' शब्द उद्धृत किया है और उसे भारोपीय dhur (तीव्र गति से युक्त होना) से सम्बद्ध किया है।

62. तुलना कीजिए संस्कृत 'मधु' (शहद); भारोपीय medhu (शहद); प्राचीन बुल्गेरियन medu (शहद)।

63. द्रष्टव्य दुर्ग-वृत्ति, भाग 1, पृ० 313: 'मधु सोममित्यौपमिकम्' इत्येतदुक्तं सोमस्य मधुत्वं 'माद्यतेः' धातोः। तृप्तिर्हि समाना सोमेन मध्वा चेत्यौपमिकम्। 'इदमपीतरन्मधु' माक्षिकम् 'एतस्मादेव' माद्यतेः। यत्तु सोमस्योपचारत्वेन तन्माध्वीकम्।

64. द्रष्टव्य दुर्ग-वृत्ति, भाग 2, पृ० 934। 'वृषभ' तथा 'वृषन्' √वृष् (वृष्टि करना, सिंचन करना) से व्युत्पन्न हैं। तुलना कीजिये संस्कृत √वृष्; भारोपीय uers (गीला करना); ग्रीक erse (ओस)।

65. द्रष्टव्य तैत्तिरीय-संहिता 1।8।6।2: अवततधन्वा पिनाकहस्त कृत्तिवासाः; वाजसनेयि-संहिता 16।5; कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदागहि। 'चर्म' अर्थ के लिए देखिए एच० ग्रासमान, Woterbuch zum Rgveda, (लाइप्सिश: 1873), पृ० 347।

66. निरुक्त-वृत्ति, भाग 1, पृ० 473; 'उपमार्थे वा'। चर्मापि कृत्तिरित्युच्यते। तयेतरा सूत्रमप्युपमीयते विकर्तनसामान्यात्। कृत्तिरिव कृत्तिः कन्था।

67. तुलना कीजिए संस्कृत 'घृत' (घी); भारोपीय ghrto, gherto—(दुग्ध, नवनीत); आयरिश gert (दुग्ध)। ऋग्वेद (3।1।13) तथा अथर्ववेद (7।82।6) में 'घृत' के साथ 'इध्म' (प्रदीप्त करने वाला) तथा 'समिन्धे' (सम्+√इन्ध्) का प्रयोग किया गया है, जिससे इस शब्द की प्रकृति √घृ (प्रदीप्त अथवा प्रज्ज्वलित करना) सिद्ध होती है। कपिष्ठल-कठ-संहिता (37।8) के अनुसार (सम्भवतः छौंक के समय) घृङ्' ध्वनि करने के कारण (शब्दानुकरण पर) इसे 'घृत' कहा जाता है। दूसरी ओर, यास्क ने इसे सिंचनार्थक √घृ से माना है: घृतमित्युदकनाम, जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः। (निरुक्त 7।24)। वे सम्भवतः जलवाची 'घृत' को दीप्ति अर्थ से भी सम्बद्ध मानते हैं; यह बात उनके इस कथन से स्पष्ट है कि माध्यमिक अग्नि (विद्युत्) जल से प्रज्वलित होती है: यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति, यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवति—उदकेन्धनः शरीरोपशमनः (तदेव 7।23)। 'सिंचन' अर्थ में √घृ का प्रयोग अथर्ववेद (10।9।25) में भी हुआ है। वैयाकरण इसे 'सिंचन' तथा 'दीप्ति' दोनों अर्थों में मानते हैं (द्रष्टव्य माधवीया धातुवृत्ति, 1।920 : घृ सेचने; 3।14 और : घृ क्षरणदीप्त्योः) और 'घृत' को सिंचनार्थक √घृ से मानते हैं (द्रष्टव्य महाभाष्य 7।1।95, वार्त्तिक 8, घरतिरस्मा अविशेषेणोपदिष्टः स घृतम् घृणा धर्म इत्येवंविषयः; प्रदीपः 'गृ घृ सेचने' इति भौवादिकः; उणादिसूत्र 3।89 : अञ्जिघृसिभ्यः क्तः। द्रष्टव्य पं० शिवनारायण शास्त्री, वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन (दिल्ली : इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, प्रथम संस्करण, 1972), पृ० 58-59।

68. द्रष्टव्य सिद्धेश्वर वर्मा, The Etymologies of Yaska (होशिआरपुर : विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान, प्रथम संस्करण, 1953), पृ० 55-56।

—संस्कृत विभाग
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय
शिमला—171005

लोकगीतों का बिंबविधान

डा० कृष्ण चन्द्र शर्मा

बिम्ब कला मूल है। अपनी कृति के लिए रचनाकार, चाहे जिस माध्यम का उपयोग क्यों न करे, पहले उसको एक मानस-चित्र उत्पन्न करना आवश्यक होता है। बिम्बों की सहायता से विचार करने की क्रिया शताब्दियों से चली आई है। दृक्पात से, अनुभूत यथार्थ का चित्रण सम्पूर्ण नहीं हो पाता। इसके द्वारा तो वह एक रेखाचित्र ही बना पाता है, जिसको वह फिर अपनी भावनाओं के रंग से अनुरंजित कर, विविध छटा प्रदान करता है। इस कार्य में उसकी सहज-प्रतिभा, परंपरा-प्राप्त ज्ञान एवं सामाजिक-जीवनादर्शों का भी योगदान रहता है, जो सब मिलकर उसकी रचना को, अनेक भंगिमाएं प्रदान करते हैं।

साहित्य का प्रयोजन वस्तु, घटना अथवा चरित्र का यथायथ चित्रण ही नहीं, उसमें सामाजिक दृष्टि भी अभीष्ट है। रचना की सार्थकता तभी है, जब वह समाज के लिए स-हित अर्थात् उपयोगी हो। इस कारण बिम्ब में, यथार्थ की सन्निकटता होने के साथ-साथ कुछ उन नई भावनाओं को जन्म देने की भी शक्ति होनी चाहिए जो वस्तु में निहित नहीं हैं। वास्तव में कला की सफलता, वस्तु में गहरे उतरने पर ही सिद्ध होती है। ऊपरी आवरण तक सीमित रह जाने से विशेष सिद्धि नहीं मिलती। अंतश्चेतना एवं भाव के बाह्यजगत तक विस्तार का नाम सौंदर्य है।[1] अथवा यों कहें कि सामाजिक उपयोगिता ही सौंदर्य है। काव्य का यही सौंदर्य अभिप्रेत है तथा मनुष्य ही वह भाग्यवान जीव है, जिसको प्रकृति ने यह सूक्ष्म दृष्टि प्रदान की है कि वह स्थूल से सूक्ष्म-संकेत भी प्राप्त करने की क्षमता रखता है। जीवन के विशाल-अंतराल में फैले हुए हमारे लोकगीत इसके साक्ष्य हैं।

जीवन की दैनिकी से लेकर परोक्ष अध्यात्म तक की भावनाएं इन गीतों में इस भांति पिरोई हुई है कि ये सफल, उदात्त-जीवन के प्रतिभू बन गए हैं। गृहाचारों में गीतों का महत्व सुखी गृहस्थ की दूरारूढ़-कल्पना में जन्म और विवाह के गीतों में सुन्दर प्रतीक-योजना के सहारे किस भांति उभारा गया है, वह देखते ही बनता है।

---

1. प्रॉब्लम्स आफ मॉडर्न एस्थेटिक्स, पृ० 129, संकलित 1934, मास्को।

षोडश-सस्कारों में सीमंतोन्नयन भी एक संस्कार है, जो पुरोहित के मंत्रों एवं महिलाओं के मंगलगान की समवेत-ध्वनि में संपन्न किया जाता है। इस अवसर के एक गीत की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं:—

एरि सास्सू, सपने में अंबुवा का पेड़,
झलर-झलर करै ।
चुप रह, बहू मेरी चुप रह री,
बैरी ना सुनें, दुस्मन ना सुने,
अंबुवा का पेड़ सपने में झलर-झलर करै ।।

संसार के अनेक देशों में बौराए-वृक्ष की तुलना गर्भवती स्त्री से की जाती है, और कहते हैं कि उसके निकट कोलाहल करने, अथवा अग्नि या प्रकाश लेकर रात्रि के समय उसके नीचे से निकलने पर हानि (गर्भपात) की आशंका रहती है। इसीलिए तो अनुभवी वृद्धा सास बहू को निस्वन रहने का उपदेश करती है । 'स्वप्न जीवन के अभावों की पूर्ति हैं' यह सामान्य विश्वास है तथा इसी के सहारे परिवार-वृद्धि की मंगलाशा में लीन वृद्धा, इस सूचना को वैरियों के कानों तक नहीं पहुंचने देना चाहती।[2] कहीं ऐसा न हो कि उनका मनचीता अपनी किसी असावधानी के कारण ही हो जाय क्योंकि दूसरों की बातों की पुनर्वार उच्चस्वर में चर्चा लोगों का स्वभाव होता है ।

इन तीन पंक्तियों में आम्र-वृक्ष जिसको लोक विश्वास के अनुसार नर-प्राणी की संज्ञा दी जाती है, स्वप्न में (जिसका सुखद परिणाम निश्चित है) 'फूल झड़ा फल लागा' बौराया देख) एक अन्य गीत पंक्ति के अनुसार) समय आने पर पुत्रोत्पत्ति की संभावना की गई है, जो हमारी तीन ईष्णाओं की गणना में प्रथम है । कृषि-प्रधान भारत के लिए ऐसी भावना करना सर्वथा उपयुक्त था।

एक जन्मगीत में यह कहा गया है–
पाणी की बूंद तें माणस उपजा हुया है बडेरा,
टिंक्कर (कीकड़) काट्टो हलस् बणाओ ।

परन्तु, दूसरे लोग इससे क्या और क्यों प्रसन्न होंगे । निज से बढ़कर मनुष्य का संसार में सनेपी (स्नेही) कौन है ?–सारा संसार इस भांति प्रतिद्वंद्विता में खड़ा देख, यदि भावी सुख की कल्पना दूसरों पर प्रकट न करने का आग्रह गीत में है, तो वह उचित ही है ।

संक्षेप: इस स्वप्न-बिम्ब में कितने कल्पना चित्र, जीवन की क्या-क्या सम्भावनाएं, कितने भाव एवं विचार, कैसी मनुहार तथा कितना ऊहापोह प्रकट हुआ है, वह विचारणीय है ।

घिसी-पिटी उपमाएं एवं अन्य अलंकार वैयक्तिक अनुभव की गरिमा प्रदर्शित न करके वस्तु का सामान्य परिचय (प्राय: एकांगी) दे पाती हैं जबकि बिम्ब स्पष्टता,

2. मेमोरीज, ड्रीम्स, रिफ्लेक्शंस, पृ० 115, सी० जे० जुंग, 1972, लंदन ।

सघनता एवं उदात्तता के साथ उसको परिपूर्णता प्रदान करता है । उसमें स्थानीय महत्व के अतिरिक्त क्रमागतरूप में अनेक अनुभूतियां जागृत करने की शक्ति होती है और इस तारतम्य के साथ वह पूरी रचना में व्याप्त होकर एक संपूर्ण चित्र की सृष्टि करता है। इसका उदाहरण एक विवाह-गीत में देखिए,

मेरे बाबा (ताऊ-चाचा आदि) जी चतर तुम एक जस लो ।
वो लहटवे का चोर पकड़ क्यों न दो ।
बीबी काहे का लहटवा, काहे लागी डोर ।
वो किसका तो जाया, लहटवे का चोर ।
बाबा सोने का लहटवा, रेशम लागी डोर ।
वू तो सासू का जाया, लहटवे का चोर ।।

प्रतीक तथा रूपकालंकार से पुष्ट यह बिम्ब समग्र गीत में प्राणतंतु की भांति अनुस्यूत है । अपने बालक्रीड़ा के साथी-जिसने मुग्धा के विकसित यौवन पर चपलता, वश हाथ चलाया है– वह उसे ही अपने प्रणयबंधन के लिए चयन करने का आग्रह करती है । गीत की दूसरी पंक्ति में ही, यद्यपि बिम्ब तथा उससे संबंधित विचार स्पष्ट हो गया है, फिर भी, आगे की पंक्तियाँ उसकी अतिरिक्त व्याख्या कर आकर्षण वृद्धि में सहायक हुई हैं। लज्जाभावना के साथ कथन की स्पष्टता व उसका औचित्य भली-भांति प्रकट है । कुलकन्या के इससे अधिक कुछ कहने में मर्यादा-भंग का भय भी तो था । इस प्रकार यह बिम्ब लज्जा, उत्साह, मर्यादा, तथा वासना के परस्पर विरोधी भावों को, देखिए, कैसे कौशल से व्यक्त करने में सफल हुआ है ।

इसी भांति कतिपय गुह्य गहन विचारों को व्यंजित करने वाला एक अन्य गीत है, जिसमें कई खण्ड चित्रों का समायोजन कर बिंबपूर्ण किया गया है—

छोटा मत ढूंढो बाबे, सब गुन खोटा ।
लंबा मत ढूंढो – – सै– फल तोड़े जी राज ।
जोड़ी बर ढूंढो बाबे, पार लगावे जी राज ।।

हिन्दू-विवाह धर्मबंधन है, जो त्रिकाल में बना रहता है । जीवन की इस लम्बी यात्रा के लिए सचमुच, वर-कन्या में तुल्ययोग्यता होना आवश्यक है । 'पार लगाने' (जीवन के सफल निर्वाह) के लिए इसकी आवश्यकता है । पारस्परिक स्नेह संबंध के दृढ़ होने के हेतु दम्पत्ति की शारीरिक योग्यता पर यौनविज्ञान में बड़ा बल दिया गया है । स्मृति-रंध्रों के द्वारा उसी की झलक पाकर तथा जीवन के उन ऐतिहासिक अनुभवों से लाभ उठा सौभाग्यकांक्षिणी कन्या इसीलिए छोटा वर चयन न करने की बात कहती है । शायद, कवि बिहारी की नायिका का इस सम्बन्ध में और भी कटु अनुभव हो, तभी उसने कहा—

प्रीतम प्यारे अरु रहे, अति सनेह सों पागि ।
तनिक कचाई देत दुख, सूरन लौं मुंह लागि ।।

इसी चित्र का दूसरा पहलू भी है, जिसमें शरीर यष्टि की असमानता के कारण परिवार-विस्तार में बाधा उत्पन्न होने की आशंका की गई है। यह निःसंदेह चिंता का विषय भी है क्योंकि हिन्दू-विवाह का उद्देश्य ही प्रजोत्पत्ति है। अतः जीवन साथी का मानसचित्र पूर्ण करने की दिशा में कन्या संग्रह एवं त्याग की पद्धति से अपनी कल्पना-मूर्ति को साकार किया चाहती है।

इससे सिद्ध है कि बिंब किसी व्यक्ति विशेष की सृजन-प्रतिभा का मात्र परिणाम न होकर, विशद सामाजिक अनुभवों के संचित इतिहास-ज्ञान का भी फल है। इनके क्रोड़ में परंपरागत अनुभव, जातीय आदर्श तथा समसामयिक परिस्थितियों का बोध रहता है।

वह कोई अच्छी कला नहीं है, जिसमें जीवन की सार्थकता न हो। लोक गीतों में यह विचार बड़ा उभरकर आया है। जीवन का ऐसा कोई अंग नहीं, जिस पर दृष्टि डाली गई हो, और वह इस विचार से शून्य हो। हमारे गीतों के बिंब इसी कारण अपरिमित सर्जनात्मक-शक्ति के भण्डार से प्रतीत होते हैं, जिनमें बात में से बात निकलती चली आती है और वे खिलती हुई कली की भांति दल पर दल (अर्थात् एक भाव अथवा विचार के बाद दूसरा) मुकुलित होते चले जाते हैं।

काव्य की सराहना के लिए शास्त्रज्ञान की उतनी अपेक्षा नहीं जितनी एक संवेदनशील भावुक हृदय की होती है। विज्ञान के वर्तमान युग में इसी की न्यूनता है। आज जीवन में ऐसी त्वरा व्याप्त हो गई है कि लोगों को उस भागाभाग में अपने निकट, अतिनिकट की प्रकृतिस्थ आत्मा का सौंदर्य दिखलाई नहीं पड़ता। ज्ञानगरिमा में खोये हुए इन व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो, किसी उर्दू-कवि के इस उद्‌गार से हमारी भी सहमति है—

वह नासहे मुशफ़िक़ हों, या हों वाइज़ रफीक़,
बहके हुए इंसानों से, अल्लाह बचाये—

× × ×

हिन्दू-परिवार की वधू का संत्रास लोकगीतों का सामान्य विषय रहा है। ऐसी अबला का चित्रण करने के लिए गीतों में कितने ही बिंब निर्माण किये गये हैं, जो सयुक्त भाव से उसकी प्रतिकृति उपस्थित करते हैं। इस निर्मिति में कितने लोगों के हाथ लगे हैं, यह नीचे दी हुई पंक्तियों से जान पड़ेगा—

सास्सु रे बीरा चुल्हे की आग,
नणद भादों की बीजली ।
सोहरा तो बीरा काल्ला-नाग,
देब्बर स्यांप – सपोलिया,
जेठ बीरा मेरे बीच्छू का डंक,
उपले पाथत डस जाए जी ।
राजा मेरे बीर, मेहन्दी का पेड़,
कदी रचै, कदी ना रचै ॥

विज्ञ पाठक इन पंक्तियों के क्रमागत बिंबों की सहायता से सम्मिलित परिवार के विषम चरित्रों के साथ जीवन व्यतीत करती असहाय मुग्धा का चित्र आंक सकते हैं। चूल्हे की आग, काला नाग, भादों की बिजली, संपोलिया (सांप का बच्चा, जो काट लेने पर खेलता =गारुड़ी के मंत्रों पर प्रकट होकर दोष कथन-नहीं करता। केवल विष दंश देकर प्राण ही हर सकता है), बीछू (जिसकी लहर पर लहर चढ़ती जाती है। अर्थात् निरंतर श्रम करते भी उत्पीड़न) ये समस्त बिंब मिलकर जिस दयनीय स्थिति का ब्यौरा देते हैं वह सहज अनुभव की जा सकती है। तथा इस दुखान्त–नाटक की चरम सीमा कभी ना रचे ('क्षणे रुष्टा, क्षणे तुष्टा' पति)–मेहंदी के पेड़ में प्रकट हुई है। श्वसुरगृह में जीवन का मात्र आधार पति भी यदि अन्य-मनस्क हो, तो फिर कहना क्या? इन उक्त प्रतीकों में भाषा की बिंबविधायिनी शक्ति के अतिरिक्त उसकी अर्थभावनी क्षमता का भी पूरा उपयोग किया गया है। रूपक के द्वारा वस्तुगुणों की ओर किया गया इंगित तो अपूर्व है। चूल्हे की आग कभी सुंदक-सुंदक, कभी भभर-भभर कर जल उठने वाली, सास के रोष की निरंत-रता तथा तीव्रता का सुन्दर परिचय है। ऐसे ही और प्रतीक भी। सहसा-उद्‌गारों (अक्सक्लेमेशंस) में– रे बीरा, तो बीरा, बीरा मेरे, व राजा मेरे की शब्द क्रम व्यवस्था द्वारा जो अर्थद्योतन होता है उसमें ध्यान आकर्षित करने, कौतूहल बढ़ाने तथा विकटता दिखाने के भाव स्वतः अंतस्थ हैं।[3] लोकगीतों में भाषा की भाव-विधायिनी एवं अर्थविधायिनी उभय शक्तियों का भरपूर उपयोग मिलता है। वास्तव में समर्थ भाषा, सूक्ष्म-निरीक्षण, बिंबविधायिनी–प्रतिभा, इन तीनों का योग ही सृजनात्मक-सौंदर्य के रूप में प्रकट होता है।

विविधामयी प्रकृति के सौंदर्यांकन के लिए कविता के सरस शब्द और चित्र-कला के रंग, रेखा ओछे पड़ते है। उसको पूर्ण अर्थवत्ता प्रदान करने के हेतु संगीत की सहायता की अपेक्षा है, जिसके बिना प्राकृत चित्रों के भाव अधूरे तथा शब्द गरिमा विहीन रह जाते हैं। शब्द साधारण अर्थ तो दे देते हैं, परन्तु स्वर की सहायता के अभाव में भावों एवं अनुभूतियों का इन्द्रधनुषी वितान बनाने में सक्षम नहीं हो पाते। अतः स्वरसंवित प्रकृति के अनुकरण पर ही लोक ने गीत विधा को अपनाया है। विभिन्न अवसर एवं परिस्थितियों में उनके स्वर समय अनुसारी सुन पड़ते हैं। भावा-वेग जितना तीव्र होता है, स्वर उतना ही सशक्त हो पाता है। प्रकृति के आह्लाद-पूर्ण वातावरण में भावातिरेक के कारण स्वर-विस्तार अतिशय प्रभावकारी हो उठता है। तब नाद और श्वास एवं अक्षर भाव की उग्रता तथा कोमलता का परिचय, अपनी उस व्यवस्था के अनुसार, देकर चरित्रों की मनोदशा का साक्षात् कराते हैं।[4] श्रावणी गीतों में जहां व्यवहार पारिवारिक स्तर तक सीमित न रहकर समाज के विशाल मंच पर घटित होता है, यह बहुतायत से देखा जा सकता है। रीति कवियों

3. हिन्दुस्तानी म्युजिक : जी० एच० रानाडे, पृ० 56
4. द एक्ट आव क्रियेशन, पृ० 325, ए कोयस्लर 1967, न्युयार्क।

के नायिका-भेद वर्णन से कहीं अधिक सजीवता व स्वाभाविकता इनमें दीख पड़ेगी।

प्रस्थानोद्यत पति को जब नायिका अपने किसी तर्क से रुकने के लिए तैयार न कर सकी तो बोल उठी—

मेरे राजा जी,
आइयो मूड मुंडाय, हाथ खपर सिर ढोबरा जी।
ओ मेरी रानी री, ऐसे बचन मत बोल।
चलते बलम न कोसिए—
तो फिर मेरे राजा जी
आइयो घुड़ल असवार
मुख मरवट, सिर सेहरा जी। (गीत–पानामारू)

असफल प्रियतमा कर्त्तव्यनिष्ठ नायक की हठ देखकर निराशा के सागर में डूबती तथा हृदय का आक्रोश उक्त वचनावली में भर देती है। दम्पति के इस संवाद में जो बिंब उभरे हैं, वे भयावह, मार्मिक-स्थिति का चित्र उपस्थित करते हैं। इनसे केवल नायिका की मनोदशा–उसका प्रगाढ़ प्रेम, उसकी अवशता ही प्रकट नहीं होती, अपितु ये मर्म-वाक्य प्रिय को अपना निर्णय बदलने के लिए किया गया अंतिम प्रयत्न जान पड़ते हैं। ललक एवं विवशता के विरोधी भावों का संगर इनमें सशक्त रूप से प्रकट हुआ है।

एक दूसरे गीत में ऐसे ही पुष्ट बिम्ब की सृष्टि कर कोई नायिका किसी वासनासिक्त जीव को वासना और प्रेम का अन्तर समझाती हुई, हिन्दू नारी के हिमालय से ऊचे आदर्श की स्थापना, किन शब्दों में करती है—

सांभर का क्या लादना, चदन बनजारे
बूंद पड़े गल जाय।
सूहे का क्या ओढ़ना, चन्दन बनजारे
देखत ही रंग जाय।
लोंग, इलायची लादिए चंदन बनजारे
बूंद-बूंद महकाय। (गीत चंदन बनजारा)

इस प्रकार इन विभिन्न बिंबों के द्वारा वस्तु स्थिति को स्थूल रूप में दर्शाकर वासनापथ त्याग के आग्रह के साथ निज चरित्र का मूर्त्तन कैसी सफलतापूर्वक किया गया है!

यह गीत स्त्रियों द्वारा गाते हुए सुना जाय तो, इन पंक्तियों के बिंबों, ललकार, फटकार के साथ प्रेम की उच्च भावना का सत्कार एवं उद्‌बोधन उन स्वरों के आरोह–अवरोह में प्रकट होगा।

× × ×

स ह रमें, मैं ही, अल बोली गु– जरी

ताल की उच्छलता में गति की तरंग और टेक के पुनरावर्तन से भाव पर अपेक्षित बल प्रकट होता है। ताल-क्रम में उक्त पंक्ति का पाठ रूपगर्विता गुजरी के मनोभावों एवं उनकी शारीरिक प्रतिक्रिया 'अनुभाव' की सफल अभिव्यक्ति है। गति मनोभावानुगत होती है। हमारी मूल प्रवृत्तियां (हर्ष, भय, शोक आदि) गति को प्रभावित करती हैं जिससे स्वरों का सविराम उतार-चढ़ाव बनता और अनेक भांति के बिंबों को उदय किया करता है। अनुकरणात्मक तथा अनुरणनात्मक शब्द इसमें सहायता करते हैं। मानसिक भावों का यह मूर्त्तन ही बिंब है। गीत के बिंबों का अर्थ एक बड़े अनुपात में उसके लय व ताल व स्वरों पर निर्भर करता है। इस तथ्य का अपने दैनिक जीवन के वार्तालाप में भी हम अनुभव करते हैं। इसका उदाहरण एक अन्य गीत-पंक्तियों से लें—

ए रूपो, बाग झुलन मत जाव,
बागों में आया है जैसिंह जाट का।
ओ मां मेरी, जाउंगी सहेलियों के साथ
क्या रे करेगा जैसिंह जाट का।
री रूपो, बहियां तो देगा मरोड़,
चुड़ला तो मौले हात्तीदांत का।
\+ \+ \+
ए रूपो कहां तें लाई एती बेर
बाट तो देक्खे जैसिंह जाट का।
ओ जैसिंह झगड़त लागी एती बेर
बरजत छोड़ी अपनी मायली॥ (गीत 'रूपो')

मर्यादा, दुराग्रह एवं वासनानुरंजित उपरि बिंबों का तर्कबल शब्दों से कहीं अधिक उनके उच्चारण में है। 'जाऊंगी', 'क्या करेगा' 'बहियां देगा मरोड़', 'चुड़ला मौले' 'बरजत छोड़ी' शब्दों में जो व्यंजना है, वह उनके कहने के ढंग ही से बिंबपूर्ति में सहायक होती है। इस कारण कागज पर अंकित-टंकित गीतों का कुछ महत्व नहीं, जब तक कि इन्हें टेप करके ही न रख लिया जाय।

लोकगीतों के बिंब सवाक्-चित्रपट की तुलना में बड़े सशक्त एवं सजीव हैं। इनकी गतिविधि को नियंत्रित करने वाले चित्र निर्देशक यहां नहीं हैं। इसके विपरीत उनके हृदय-उद्गारों का प्रेरक-उल्लास यहां अवश्य है जो उनको जीवन की सानुरूपता देता है। सर्वग्राह्य प्रतीकों एवं स्थानीय वातावरण से उठाए गए अप्रस्तुतविधान (विशेष रूप में रूपक) की सहायता से संस्कृति के विभिन्न पक्षों को उभारने वाले गीत-बिंब चित्र एवं काव्य की अपेक्षा हमारे अत्यधिक निकट हैं।[5]

प्रमाण यह है कि इन गीतों को सुनकर अनेक व्यक्तियों की आंखें चमक उठती और कभी-कभी डबडबा जाती हैं। यह सब रसिक के सायुज्य (तादात्म्य) की अनुभूति

5. प्रॉबलम्स आफ मॉडर्न एस्थेटिक्स, पृ० 321।

का परिणाम है। गीत-वर्णित चरित्रों के साथ जो जितना एकरस हो सके, वह उतना ही उनके सुख-दुःख का भागीदार बन जायगा।[6] लोक में विचरण करते तथा लोक-गीतों में वर्णन किए गए चरित्रों में कोई अन्तर नहीं हैं। समानुभूति द्वारा वे एक जैसे ही सिद्ध होंगे।

इन चरित्रों की एक विशेषता यह भी है कि ये मूल (आर्केटाइप) चरित्र हैं जिनमें युग-युग के समान अनुभव पुंजीभूत हो साकार हो उठे हैं। किसी भी क्षण काल गवाक्ष से, इनमें अतीत से वर्तमान तक बदलते समाज की दृश्यावली, कोई भी कभी देख सकते हैं। होली के एक गीत की ये पंक्तियां उदाहरण हैं—

मंडेरे की ओट लखाये रंडुवा।
री, भकावे (भ= ब+ह) रडुवा।
सुनरे का लड़का टूम बणावे,
हमकूं देवे ना दिवावे रंडुवा।
हे मंडेरे की ओट······

लोक के ऐसे कुंठारहित, मानव की मूल प्रकृति से ग्रथित उद्‌गारों को अश्लील बतलाकर उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं। उत्तेजित भावनाएं मुक्ति का अनुकूल मार्ग न पाकर क्रांतिपथ अपनाती और यथेच्छा स्वयं को मुक्त कर लेती हैं। विराट पुरुष का दर्शन सर्वतोभाव क्यों न किया जाय? किसी सांस्कृतिक इकाई का समग्र-जीवन व्यवहार उसके लोकगीतों में प्रदर्शित होता है। उनको अच्छे-बुरे की संज्ञा देना व्यर्थ है। सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक सभी परिवेशों में जीवन खिलता है और उन सबकी छटा एक दूसरे से भिन्न और निराली है।

बिंबविधान रचयिता की भावुकता पर निर्भर होता है। व्यक्ति, वस्तु अथवा दृश्य में जो जितना ही अधिक अपने प्राणों का रस घोल देंगे वे उतना ही सबल बिंब निर्माण कर सकेंगे। सूक्ष्म-भावनाओं का सजीव-अंकन, चरित्रों की अंग-भंगिमा, उद्देश्यपूर्ण वाचा एवं उनके कृत्यों द्वारा प्रतिभासंपन्न सर्जक अनायास कर लेता है। स्त्रियां अपढ़ सही, परन्तु उनमें भावुकता और गंभीर दृष्टि की कमी नहीं। इसलिए वे अपनी अनगढ़-भाषा ही में बड़े भावमय चित्रों, चरित्रों का उद्‌घाटन करने में सफल होती हैं।

स्त्रियों के चयनित प्रतीक सुगमता से पहचाने जाने वाले, स्पष्ट, असंशयात्मक तथा नित्य-व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं पर आधारित होते हैं। इन प्रतीकों द्वारा कौतूहल भरे बिंबों की सृष्टि आश्चर्यचकित कर देती है। लोकगीतों के प्रतीक एन्द्रिक, वासनोत्तेजक एवं प्रकृत हैं। आडम्बरपूर्ण नैतिक भावना के अधीन इनको अग्राह्य समझना भूल होगी। इनका संबंध हमारी उन बलवती प्रवृत्तियों से है, जो जीवन का सर्वांग नियंत्रण करती हैं, सारा भौतिक, नैतिक एव आध्यात्मिक जीवन

6. दि एक्ट आफ क्रिएशन, पृ० 349।

जिनके सहारे संपन्न होता है। इन्हीं प्रतीकों की सहजता बिंबों की सुगमतापूर्वक निर्मिति करती और तत्काल प्रभाव उत्पन्न करती है।

जो शब्द लक्षणा, व्यंजना से संबद्ध होकर बड़े चमत्कारी प्रतीत होते हैं, वे पुनरुक्ति (फ्रीक्वेंसी) के परिणामस्वरूप अपना वास्तविक कर्म-संलग्न (व्युत्पत्तिपरक) अर्थ खो बैठते हैं। देशज-शब्दों में यह कम देखने में आता है और वे अपने मूलार्थ से जुड़े रहने के कारण यथार्थ की अभिव्यक्ति में अधिक सफल होते हैं। गीतों की भाषा जन-भाषा होने के कारण गीत हमारे अति निकट होकर सीधे ही हृदय में स्थान पा लेते हैं और गायक अथवा गायिका के मनोभावों की तरंग में श्रोता बहने लगते (उनसे एकरस हो जाते) हैं। शब्दों में संयोग और विच्छेद की अपरिमित शक्ति लोकप्रसिद्ध ही है।

लोकगीतों में किसी रूढ़-शैली का अभाव है। प्रत्येक गीतगायिका प्रत्येक गीत में अपने मनोविचारों की अभिव्यक्ति के निमित्त पृथक् शैली अपनाती है, जिससे उनमें प्रयुक्त प्रतीक और भी सघन बनकर प्रकाशित बिंब को अतिरिक्त अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। आचार्यों का मत है कि 'संपूर्ण भाषा ही प्रतीक है' तथा एक-एक प्रतीक अनेकानेक बिंबों को जन्म देने की शक्ति रखता है, जो लोकभाषा की एकान्त विशेषता है।

—निदेशक,
कुरु लोक संस्थान—
राम वाटिका,
शिवाजी मार्ग, मेरठ

काव्यानुभूति और रसानुभूति

"काव्यानुभूति और रसानुभूति में तात्विक दृष्टि से थोड़ा भेद बताया जा सकता है। काव्यानुभूति की स्थिति विशेष रूप से कलाकार में मानी जाती है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में। इसका यह तात्पर्य नहीं कि काव्यानुभूति पाठक को नहीं होती या कलाकार रसानुभूति से वंचित रहता है। दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न भिन्न रूप हैं। एक में विधायक कल्पना की अपेक्षा रहती है और दूसरे में ग्राहक कल्पना की। काव्य की अनुभूति होने पर ही कलाकार अपने काव्य की सृष्टि में तत्पर होता है और पाठक या श्रोता को जब तक उसमें रसानुभूति न हो, तब तक उसके लिए काव्य की संज्ञा ही व्यर्थ है।"

—लक्ष्मीनारायण सुधांशु
('काव्य में अभिव्यंजनावाद' से)

"कुछ करोड़पतियों को समाप्त कर डालने से ही गरीबों का शोषण समाप्त नहीं किया जा सकता। गरीब लोगों का अज्ञान मिटाकर और उन्हें अपने शोषकों के साथ असहयोग करना सिखाकर ही उसे समाप्त किया जा सकता है। इससे शोषकों का हृदय भी परिवर्तित होगा। मैंने तो यहां तक कहा कि इसके परिणामस्वरूप गरीबों और अमीरों में हिस्सेदारी स्थापित हो जायेगी। पूंजी स्वयं बुरी चीज नहीं है, उसका दुरुपयोग बुरी चीज है।"

—महात्मा गांधी

महाभारतकार का सौन्दर्य-बोध

ब्रजनाथ गर्ग

सौन्दर्य कला का स्वाभाविक एवं व्यापक गुण है। कला सृष्टि है इसलिए कला का सौन्दर्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। जहां तक सौन्दर्य की दार्शनिक व्याख्या का प्रश्न है—भाव, रूप, एवं तत्व तीनों में ही सौन्दर्य की खोज हुई है। वस्तुगत दृष्टिकोण से यदि अनेकता में एकता की व्यवस्था, सामंजस्य एवं सन्तुलन आदि रूप में वस्तुओं का रूप-गुण सौन्दर्य है तो अनुभूतिवादियों की दृष्टि से यह चेतना का भाव है। कलाकार अपने मन के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति के माध्यमों का जामा पहना कर उसे कला के रूप में अभिव्यक्त करता है। परन्तु कलाकार के 'मन के सौन्दर्य' से मेरा तात्पर्य भाववादियों द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिपरक सौन्दर्य बोध से नहीं है : वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति के मन में सौन्दर्य के कुछ प्रतिमान होते हैं जो उसके भौतिक जीवन को आनन्द प्रदान करने में सहायक होते हैं। कवि उन्हीं प्रतिमानों को अनेकानेक प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। यही कारण है कि देशकाल के अनुसार सौन्दर्य बोध के प्रतिमान भी बदलते रहते हैं तथा समाज के विकास के साथ-साथ कवि और सामाजिक दोनों के ही ''सौन्दर्य बोध' का विकास होता रहता है। ललित कलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान काव्य कला को दिया गया है—कारण, उसके माध्यमों का अति सूक्ष्म होना है। काव्य ही वह कला है जिसमें सौन्दर्य अपने सबसे अधिक स्पष्ट और सम्पन्न रूप में अभिव्यक्त होता है, क्योंकि काव्य में ही वस्तु, रूप एवं भाव तीनों का पूर्ण समन्वय मिलता है तथा काव्य के विभिन्न उपकरणों जैसे-विचार, राग, कल्पना तथा शब्द व अर्थ आदि में उचित अनुपात, संतुलन एवं सामन्जस्य के निर्वाह से उसमें आह्लाद और रमणीयता की सृष्टि की जा सकती है। काव्य ही यह कला है जिसमें जगत के वस्तुतत्त्व और जीवन के भाव-तत्त्व दोनों का सामन्जस्यपूर्ण समाहार होता है।

कवि एक ओर मन के सौन्दर्य को कल्पना शक्ति के सहारे साहित्य में अभिव्यक्त करता है तो दूसरी ओर बाह्य-जगत की वस्तुओं के रूप में स्थित सौन्दर्य को प्रकट कर वह पाठक अथवा श्रोता के मन में अवस्थित सौन्दर्य बोध को जागृत कर उसे काव्य के रस का पान कराता है। इसीलिए काव्य में वस्तुगत और भावगत दानों प्रकार के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है। यही कारण है कि काव्य अथवा

साहित्य का सौन्दर्य विविध रूपों में प्रकट होकर पाठक अथवा श्रोता को आनन्द प्रदान करता है। भावसौन्दर्य, कल्पना-सौन्दर्य, प्रकृति-सौन्दर्य, जीवन-सौन्दर्य, कर्म-सौन्दर्य, शरीर-सौन्दर्य, वस्तु एवं व्यापार सौन्दर्य अर्थात् सौन्दर्य के सभी रूप काव्य में सफलता के साथ चित्रित होते हैं।

जब से मानव-जाति ने सभ्यता और संस्कृति का अर्जन किया है तभी से उसे ऐसे काव्य की आवश्यकता का अनुभव होता रहा है जिसमें उसे जीवन और जगत की यथार्थता तथा मानव मन की विस्तृत भाव-सम्पत्ति की महिमा से पूर्ण, सुन्दर और ओजमयी अभिव्यक्ति मिल सके। कविगण इस कार्य को जहां वस्तु-तत्त्व और भाव-तत्व में निहित सौन्दर्य को अपनी कल्पना शक्ति से उद्घाटित करते आए हैं, वहां वे इस सौन्दर्य की उद्घाटन प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले माध्यमों अथवा साधनों में भी सौन्दर्य की सृष्टि करते आए हैं। इसी से काव्य के भाव-पक्ष और कला-पक्ष दोनों में ही सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास होता रहा है।

भारत में प्राचीनतम काव्य के रूप में संस्कृत का ही साहित्य मिलता है। वैदिक काल का साहित्य सबसे प्राचीन होते हुए भी मानव रचित नहीं माना जाता। लोकोत्तर शक्तियों द्वारा रचित काव्य होते हुए भी इसमें मानव जीवन और प्रकृति के सौन्दर्य का बहुविध चित्रण मिलता है। वैदिक काल के साहित्य में सौन्दर्य और धर्म की भावनाएं मिलकर अभिव्यक्त हुई हैं। वेदों को हम न तो केवल धार्मिक साहित्य कह कर छोड़ सकते हैं और न ही उसे काव्य-साहित्य की संज्ञा दे सकते हैं क्योंकि उसमें जीवन के स्थूल भौतिक पक्ष, उसमें अवस्थित धर्म एवं आध्यात्मिकता के साथ-साथ काव्य की सरसता का भी अद्भुत-मिश्रण देखने को मिलता है।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में मानवकृत ग्रन्थ के रूप में सर्वप्रथम हमें महाकवि वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' मिलती है। रामायण काल का समाज नागरिक सभ्यता की ओर अग्रसर दिखलाई देता है। इस काल में जीवन धर्म और आध्यात्मिकता की धुरी को छोड़ कर राजनैतिक सामाजिक और नैतिक समस्याओं का सामना कर रहा था। इस आधार पर यदि हम आदिम मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति को 'प्राकृतिक सौन्दर्य' और वैदिक युग की सौन्दर्यानुभूति को 'दिव्य-सौन्दर्य' कहें तो रामायण काल की इस अनुभूति को 'मानव सौन्दर्य' की संज्ञा दे सकते हैं। वास्तव में रामायण और महाभारत वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत साहित्य के बीच की कड़ी है।

रामायण के पश्चात् 'महाभारत' काल आता है। विद्वानों में मतभेद होते हुए भी इस ग्रन्थ का रचनाकाल सामान्यतः विक्रम से लगभग 500 वर्ष पूर्व माना जाता है। रामायण युग के मुकाबले इस युग की सभ्यता अशान्तिमय एवं अव्यवस्थित थी तथा संस्कृति इतनी समुन्नत नहीं थी जितनी कि रामायणकाल की। इस ग्रन्थ के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को माना जाता है। यमुना के किसी द्वीप में जन्मने के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' के नाम से प्रसिद्ध हुए एवं शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा एक वेद के यज्ञीय उपयोग के लिए चार संहिताओं में विभाग करने

के कारण 'वेद व्यास' के नाम से अभिहित किए गए। महाभारत में कहा गया है कि 'व्यास ने तीन वर्ष तक लगातार परिश्रम करके इस अद्भुत आख्यान महाभारत की रचना की।' व्यास जी ने स्वयं लिखा है कि, 'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।' इसीलिए वेदव्यास के महाभारत को काव्य, इतिहास, आख्यान, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, और कामशास्त्र, एक साथ कहा जाता है।

महाभारत का युग धर्मप्रधान युग था इसीलिए उसमें दर्प, उग्रता और तेज है। महाभारत के पात्रों की रग-रग में स्वाभिमान का दर्प है। गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर; और यहाँ तक कि घृणा करने वाला अपनी घृणा का भी खुलकर प्रदर्शन करता है और उस पर गर्व करता है। महाभारत में पात्रों और घटनाओं की इतनी विविधता है कि इसे पढ़ते समय पाठक एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में विचरण करता है। यूं इस ग्रन्थ की मूल कथा कौरव और पाण्डवों के गृहयुद्ध से सम्बन्धित है किन्तु इस ग्रन्थ की रचना के पीछे कवि का मन्तव्य केवल युद्धों और आख्यानों का वर्णन करना ही नहीं अपितु इस भौतिक जीवन की निस्सारता को दिखलाकर मनुष्यों को मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रेरित करना भी है— इसीलिए इस काव्य का मुख्य रस वीर न होकर 'शान्त' है। वीर रस केवल अंगभूत है। 'शान्त रस' हमारी सौन्दर्य चेतना का अंश है। जिस प्रकार 'रामायण' में संघर्ष के पश्चात् सामंजस्य से 'करुणा' अथवा 'उदात्त शोक' की अनुभूति होती है उसी प्रकार 'महाभारत' काव्य में जीवन के गम्भीर संघर्ष के पश्चात कृष्ण के जीवन में जो सामंजस्य उत्पन्न होता है उससे 'शान्ति' अथवा 'शान्त रस' की अनुभूति का जन्म होता है। सम्पूर्ण महाभारत अनेकों आख्यानों और प्रसंगों द्वारा इसी संघर्ष से सामंजस्य एवं इस सामंजस्य से शान्ति के उत्पन्न होने की गाथा है। यही इस काव्य का सौन्दर्य है और यही लक्ष्य।

'महाभारत' में चित्रित इस सौन्दर्य के साथ वस्तुगत, भावगत और शैलीगत सभी प्रकार का सौन्दर्य अपने सम्पन्न रूप में अभिव्यक्त हुआ है। व्यास जी ने लिखा है, "यह कवि रूपी माली का यत्न पूर्वक संवारा हुआ उद्यान नहीं है, जिसके लता, पुष्प, वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, अपितु यह अपनी ही जीवनी शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अत्यन्त परिवर्धित विशाल वन है जो अपनी उपमा आप ही है।"

व्यास के 'महाभारत' में काव्यगत, वस्तुगत, प्राकृतिक एवं मानव सौन्दर्य के साथ-साथ कर्म सौन्दर्य के चित्रण पर अधिक बल दिया गया है। कर्म, ज्ञान और भक्ति के सौंदर्य का जैसा सुन्दर समन्वय इसी ग्रन्थ के ही एक भाग 'गीता' में है वह कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकता। महाभारत के पात्रों में एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य है। वे अपने-अपने ढंग के विचित्र पात्र हैं।

महर्षि व्यास ने भारतीय धर्म, अध्यात्म, अर्थनीति, राजनीति आदि के सिद्धान्तों का सारांश इस ग्रन्थ में इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है कि यह ग्रन्थ वास्तव में काव्य या इतिहास न होकर धर्म तथा ज्ञान का विश्वकोष एवं भारत का पांचवां वेद बन गया है।

इतना सब कुछ होते हुए भी व्यास जी एक कर्मवादी आचार्य हैं। उनकी दृष्टि में कर्म ही मनुष्य का पक्का लक्षण है। कर्म से विमुख जीव मानव की पदवी नहीं प्राप्त कर सकता। यह भारत भूमि तो कर्मभूमि है। फल भोगने का स्थान तो स्वर्ग के रूप में कल्पित है जो इस भूमि को छोड़ने के पश्चात् ही प्राप्त हो सकता है। उनकी दृष्टि में इस विशाल ब्रह्मांड में मनुष्य ही सर्वश्रेष्ठ एवं सुन्दरतम कृति है। उसी के लिए समस्त पदार्थों की सृष्टि तथा समाज की व्यवस्था की जाती है। ऐसे मनुष्य का सौन्दर्य केवल शारीरिक नहीं अपितु कर्म और पुरुषार्थ है। इस प्रकार 'शान्त रस' की प्रमुखता के साथ व्यावहारिक क्षेत्र में व्यास जी ने कर्म सौन्दर्य को ही अपने काव्य का मूल प्रेष्य बनाया है। इन्हीं विशेषताओं के कारण व्यास के 'महाभारत' के विषय में कहा जाता है कि, "जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है, उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली बिल्कुल रूखी प्रतीत होती है।"

इस प्रकार महाभारतकार ने अपनी कृति के माध्यम से उस व्यापक सौन्दर्य की सृष्टि की है जो निरपेक्ष रहकर केवल दर्शन अथवा कला का विवेच्य नहीं अपितु मानव जीवन और प्रकृति का भी सौन्दर्य है। इस कलागत सौन्दर्य सृष्टि का लक्ष्य मात्र मानसिक विलास अथवा औत्सुक्य की शान्ति न होकर मानवीय सौन्दर्य-चेतना का निरन्तर विकास करना है जिससे वह अपने (मानव) जीवन के साथ-साथ सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश को भी उत्तरोत्तर सुन्दर बनाने में सक्षम हो सके। यही सच्चे कलाकार का धर्म है।

—हिन्दी विभाग,
शम्भुदयाल कालेज,
गाजियाबाद।

रीतिकालीन सौन्दर्यदृष्टि : कुछ संकेत

●

डा० कृष्णबिहारी मिश्र

किसी विशिष्ट युग के कवियों की काव्य-सौष्ठव विषयक मान्यताओं की जाँच-पड़ताल का एक तरीका उनकी रचनाओं में इन मानदण्डों की खोज का हो सकता है।

हर युग में कुछ सनिष्ठ कवि होते हैं और कुछ उनका अनुकरण करने वाले, नकली सिक्के गढ़ने वाले लेखक। ये उनकी (सनिष्ठ कवियों की) अनुकृति में उनके मुहावरों, प्रतीकों और उपमानों आदि की ही नकल नहीं करते, उनकी कविताओं में व्यक्त भावनाओं का मिथ्याभास खड़ा करते हैं। छायावादी युग में भग्न हृदय, टूटी तंत्री और व्यथा के अश्रुओं को लेकर निशीथ के नक्षत्रों को निहारने वाले कवियों की भरमार थी। इसी प्रकार जब प्रगतिवाद को फैशन के रूप में अपनाया गया तो दीनों के हाहाकार-क्रन्दन और खूनी विप्लव की ललकारों के शब्द से आकाश गुंजा देने वाले कवियों की बाढ़ सी आ गई थी। जीवन के सहज अनुभव को कला में रूपायित करने वाले कुछ सनिष्ठ (genuine) कवियों को छोड़कर शेष न जाने कहाँ बह गये !

रीति युग में भी ऐसा हुआ था और अनेक आचार्यों और कवियों ने इनका विरोध करते हुए कवि कर्म को गम्भीरता से लेने का आग्रह किया था। समस्यापूर्ति करने वाले तुक्कड़ों को भिखारी दास कवि कहना ही अनुचित समझते थे—

> दास जु पै तुक जोरन हार, कविन्द उदारन की सरि पैहै।
> तौ करतारहु सो औ कुम्हार सो, एक दिना झगरो बनि जैहै॥

दिन में चाक पर घुमाकर एक से सैकड़ों मिट्टी के बरतन बनाने वाले कुम्हार की, जीवन और जगत की, रंग और रूप की शत-शत छवियों से पूर्ण मनोहर सृष्टि के रचयिता विधाता से क्या तुलना ?

इसी प्रकार ठाकुर कवि ने मृग, मीन, कमल, खंजन आदि उपमानों की सूची कंठस्थ कर पौराणिक 'कवि-प्रसिद्धियों' की जानकारी प्राप्त कर और आश्रयदाताओं की प्रशंसा-परिपाटी भर सीखकर कविता को खेल समझने वाले लोगों को फटकारा था। उनकी कवितायें उन कठोर मिट्टी के ढेलों के समान थीं जिन्हें निष्ठुरता से फेंकते हुए वे न जाने कितने सहृदयों को आघात पहुंचाते थे:—

सीखि लीन्हों मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हो जस औ प्रताप को कहानो है ।
सीखि लीन्हों, कल्प वृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि,
सीखि लीन्हों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है ।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नाहिं भूलि कहूं बांधियत बानो है ।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कबित्त कीनो खेल करि जानो है ।

कविता का जो सबसे कठिन कार्य है, मानवीय भावनाओं की जीवन्त और प्रभावशाली अभिव्यक्ति, उसकी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती ।

कैसे भाव-सौन्दर्य भाषा के माध्यम से कविता में सहृदय-संवेद्य बनता है । इसे घनानन्द ने रूपक के माध्यम से अंकित किया है:—

उर मौन में मौन को घूंघट कै,
दुर बैठी विराजति बात बनी ।
मृदु मंगु पदारथ भूषन सो
सु लसै हुलसै रस रूप मनी ।
रसना अली, कान गली मधि-ह्वै
पधरावति लै चित सेज ठनी ।
घन आनंद बूझति अंक बसै,
विलसै रिझवार सुजान धनी ।

रस के सौन्दर्य से मण्डित, कवि हृदय की भाव सुषमा, मनोहर शब्दार्थ और अलंकृत भाषा के माध्यम से, रसना से उच्चरित होकर, सौन्दर्य की सूक्ष्मताओं के पारखी चतुर सहृदयों के श्रवणों में जाकर, उनकी भावन शक्ति को तृप्त करती हुई स्वयं सार्थकता प्राप्त करती है ।

एक ओर प्रेषणीय काव्य-वस्तु और कवि के अभिव्यक्ति कौशल को महत्व देते हुये, दूसरी ओर घनानन्द, आस्वादक की योग्यता को रेखांकित करते हैं और दोनों पक्षों में सतुलन स्थापित करते हैं ।

काव्य रचना केवल बुद्धि और परिश्रम से समन्वित सामान्य कार्य व्यापार नहीं है, अपने व्यक्तित्व को सार्थकता देने का यह प्रयास उसके लिए एक प्रकार से आत्मोपलब्धि भी है:—

'लोग तो लागि कवित्त बनावत,
मोंहि तौ मेरे कवित्त बनावत।'

देव की 'रूप' की परिभाषा को प्रसंगान्तर से काव्य-सौन्दर्य के विशिष्ट लक्षणों की ओर संकेत के रूप में भी ग्रहण किया जा सकता है :—

देखत ही जो मन हरै, सुख आंखिन को देय ।
रूप बखानै ताहि, जो जग चेरो करि लेय ।

सच्चे काव्य में तत्क्षण आकर्षित करने, आनन्द प्रदान करने और तन्मय कर लेने की क्षमता होती है । अप्रत्याशित रूप से हृदय में प्रविष्ट होकर उद्विग्न कर देने की क्षमता कला में परिष्कार से ही सभव है । देव की एक पंक्ति है—

मांजि ही मांजि रहीं अपनो तनु
काहू की आँखिन में गडि जैहो ।

थाली कटोरी आदि बर्तनों को बराबर मांजने से उनमें निकली हुई पतली धार जैसे अचानक हाथ में चुभ जाती है उसी तरह परिष्कृत कला-सौन्दर्य अनायास ही पारखी के मन में कहीं गहरे प्रविष्ट होकर, उसमें, न जाने कितनी भावतरंगें हिलोर देता है ।

शरीर में अंगों के आनुपातिक संनिवेश अथवा रचना में कलात्मक उपादानों के संघटन मात्र से यह प्रभाव क्षमता उत्पन्न नहीं होती । घनानन्द अनेक तरुणियों के नेत्रों के अनियारे और 'दीर्घ' होने पर भी सुजान की वशीभूत करने की शक्ति किसी विशिष्ट दृष्टिपात में ही अनुभव करते हैं जो अन्यों से पृथक् और विलक्षण है ।

'रावरे रूप की रीति अनूप
नयो-नयो लागत ज्यों-ज्यों निहारिये ।'

में जिस प्रकार रूप की रमणीयता की निरन्तर आनन्दित करने की शक्ति की पहचान है उसी प्रकार कलाकृति या रचना भी, निरन्तर नये अर्थों को उद्भासित करती हुई, सदैव प्रासंगिक बनी रहती है । हर युग में किसी विशेष दृष्टि-बिन्दु से उसे एक नया महत्व मिल जाता है । काल और देश के आयामों का अतिक्रमण करने वाली कला-सृष्टियाँ, सामीप्य और सान्निध्य से, मनन और चिन्तन के परिणाम स्वरूप, नई भावछवियों और मनोरम अर्थों को उजागर करती हैं :—

'ज्यौं-ज्यौं निहारिये नेरे ह्वै नैनन, त्यौं-ज्यौं खरी निकरै सी निकाई ।'

कला-सौन्दर्य के सर्जक और उसके सहृदय मर्मज्ञ समीक्षक के तुलनात्मक महत्व पर भिखारीदास की यह उक्ति शायद बहुत सटीक बैठती है :—

'दास बड़ी-ब्रड़ी बातें कहा करौ, आपने अंगनी देखौ करोटी ।
जानति ना यह कंचन से तरूनी तन को कसिबे की कसौटी ।।'

रूपगर्विता के सदृश सर्जक कलाकार को भी अपने 'वर्ण-सौन्दर्य' पर अहंकार है । परन्तु उसका सही मूल्यांकन, आशंसा (appreciation) उसकी सामर्थ्य की सही परख करने वाली समीक्षक-प्रतिभा पर निर्भर है ।

सर्जनात्मक साहित्य का अध्ययन-मनन समीक्षक के लिए उपकारक है। वह उसकी भावन शक्ति को निरन्तर पुष्ट करता हुआ उसके सौन्दर्य-बोध को तीक्ष्ण बनाता है। दूसरी ओर समीक्षा कलाकार के लिए कभी अपकारक नहीं होती। समीक्षा में कलाकार को उसकी निश्चित दिशा से मोड़ देने की क्षमता नहीं होती—

'सोने को रंग कसौटी लगै, पै कसौटी को रंग लगै नहि सोनो।'

सर्वश्रेष्ठ कलाकृति की रचना इस प्रकार के किसी पूर्व संकल्प या निश्चित योजना के अनुसार नहीं होती। सृजक के किसी विशिष्ट क्षण में ऐसे अनुपमेय भाव, चरित्र या रूप का अंकन हो जाता है जिसको घुणाक्षर न्याय से ही समझा जा सकता है :—

ज्यौं जिनहीं गुन अंक लि-खै धुन,
यौं करिकै करता करि हार्यो।
लाज लजै जिय और रचै
लै पचै बिनुकाज विरंचि विचार्यो।

कलाकार की अनुभूति की तीव्रता को भाषा के असमर्थ माध्यम से पूर्णतः व्यक्त करना संभव नहीं है। प्रतीक, बिम्ब आदि साधन इस सामर्थ्य में वृद्धि करते हैं। फिर भी कभी-कभी हृदय के संवेदनीय तत्व और पाठक तक प्रेषित उसके भाषागत रूप में इतना अन्तर हो जाता है कि स्वयं कलाकार ही उससे कुंठित हो उठता है क्योंकि आखिर कवि भी रचना के पश्चात् उसका एक ममत्वपूर्ण पाठक ही तो है :—

जानैं वेई दिन राति, बखाने ते जाय परैं दिन राति को अन्तर।

कवि की संवेदना, जीवन की अनुभूतियों से ही, दीप्ति प्राप्त करती है, जो उसे मानव-चेतना के लिए किसी नवीन संदेश का वाहक बनाती है :—

नेह भीजी बातैं, रसना पै, उर आंच लागे,
जागैं 'घन आनन्द', ज्यौं पुंजन मसाल हैं।

रीतिकाल के इस विश्लेषण की दिशा अतीत की ऐतिहासिक प्रासंगिकता के सन्दर्भ में है।

—हिन्दी विभाग
दयालसिंह कालेज
नई दिल्ली

घनानन्द की सौन्दर्य-चेतना

डा० रामेश्वरदयालु अग्रवाल

मानव-मन पर काव्य का प्रभाव जो इतना व्यापक और गम्भीर दीख पड़ता है उसका कारण यही है कि काव्य सौन्दर्य (या रमणीयता) को ही अपना प्रधान उपजीव्य बनाकर चलता है, और सौन्दर्य वही है जिसमें मन रमे। इसी को आचार्य शुक्ल ने मानव की 'अन्तस्सत्ता की तदाकार-परिणति' कहा है। मानव नित्य नूतनता का प्रेमी है और जो प्रतिक्षण नया लगे वही तो सौन्दर्य है—क्षणे क्षणे यन्नवता-मुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:। यह सौन्दर्य विश्व के अनन्त प्रसार में भरपूर बिखरा पड़ा है, पर उसे देखने के लिए भावुक दृष्टि चाहिए। प्रकृति अनन्त रूपों में हमारे सामने आती है— कहीं मधुर, सुसज्जित या सुन्दर रूपों में, कहीं रूखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कहीं भव्य, विशाल या विचित्र रूप में; कहीं उग्र, कराल या भयंकर रूप में। सच्चा भावुक वही है जिसका मन इन सब रूपों में रमता है। जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रमार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुंजार, कोकिलकूजित निकुंज, शीतल-सुखस्पर्श समीर, मुक्ताभास-हिमबिन्दुमण्डित मरकताभ शाद्वल-जाल, विशाल गिरिशिखर से गिरते हुए जल प्रपात के गम्भीर गर्त से उठी हुई सीकर-नीहारिका के बीच विविध वर्णस्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रता में ही सौन्दर्य का साक्षात्कार कर पाते हैं वे सच्चे सहृदय नहीं, बल्कि तमाशबीन हैं।[1]

विश्व में प्रसरित इस सौन्दर्य को हम स्थूल रूप में जड़ और चेतन–इन दो भागों में बाँट सकते हैं। चेतन भी मानव और मानवेतर–इन द्विविध रूपों में दीख पड़ता है। मानव के अन्तर्गत नर और नारी—ये दो विभाग हैं ही। वस्तुतः सौन्दर्य का आदर्श रूप प्रकृति में दीख पड़ता है। उसमें अक्षय नूतनता है, क्योंकि वह नित्य परिवर्तनशीला है :—

> पुरातनता का यह निर्मोक
> सहन करती न प्रकृति पल एक,
> नित्य नूतनता का आनन्द
> किए है परिवर्तन में टेक।।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रस-मीमांसा, पृ० 12

मानव-सौन्दर्य इसी प्रकृति-सौन्दर्य की प्रतिकृति है। प्रकृति के निकट सम्पर्क में रहने वाले भारत के प्राचीन कवि सौन्दर्य के इस अखिल विश्वव्यापी प्रसार में रमते और उसका चित्रण करते थे, पर परवर्त्ती काल में कवियों की दृष्टि उत्तरोत्तर मानव-सौन्दर्य तक सीमित होती गई और उसमें भी केवल नारी-सुषमा तक। हिन्दी का रीतिकाल ऐसा ही काल था। इसी कारण घनानन्द-जैसे भावुक कवि के काव्य तक में हम मुख्यत: नारी के रूप-वैभव का ही अंकन पाते हैं।

घनानन्द ने अपनी प्रेयसी सुजान के लावण्य में सौन्दर्य के जिस चरम रूप का साक्षात्कार किया, उसकी प्रमुख विशेषता यही थी कि वह नित्य नया लगता था :

रावरे रूप की रीति अनूप, नयो नयो लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियै।

इस असीम रूप-वैभव से चमत्कृत सौन्दर्य-पारखी घनानन्द की आँखें अन्यत्र कहीं टिक ही न पाईं :

(क) त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
(ख) डीठि कौं और कहूँ नहिं ठौर, फिरी दृग रावरे रूप की दोही।

सुजान के सौन्दर्य की पहली विशेषता थी उसकी अंग-विच्छित्ति, उसका लावण्य, जो उसके अंग-अंग से फूटकर उसके चतुर्दिक् एक प्रभामण्डल का निर्माण करता था और द्रष्टा की दृष्टि को चौंधियाकर तत्काल उसके चित्त को वशीभूत कर लेता था। इसके साथ ही उसके मस्तीभरे विशाल नयन, हँसने और बोलने में फूल-से झड़ना, बालों की लटों का अलबेलेपन से कपोलों पर क्रीड़ा करना, कण्ठ में सच्चे मोतियों की दो लड़ियोंवाली माला का सुशोभित होना आदि विशेषताएँ उस रूप को चरमोत्कर्ष तक पहुँचा देती थीं :

झलकै अति सुन्दर आनन गौर, छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलन मैं छवि फूलन की बरषा उर-ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करै, कल कंठ बनी जलजावलि द्वै।
अंग-अंग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै॥

इस अंग-विच्छित्ति को कुछ मौलिक उपमानों की सहायता से कवि ने एक अन्य स्थल पर बड़ी मार्मिकता से व्यंजित किया है :

स्याम घटा लपटी थिर बीज कि सोहै अमावस-अंक उज्यारी।
धूम के पुंज मैं ज्वाल की माल-सी पै दृग-सीतलता-सुखकारी।
कै छवि छायौ सिंगार निहारि सुजान-तिया-तन-दीपति प्यारी।
कैसी फबी घनआनँद चोपनि सों पहिरी चुनि साँवरी सारी॥

नीली साड़ी पहने गोरी सुजान की अंग-कान्ति ऐसी लगती थी मानों स्थिर विद्युल्लता से श्याम घटा लिपट गई हो, अथवा अमावस की घोर अँधेरी रात की

गोद में ज्योत्स्ना सुशोभित हो, अथवा धुएँ की राशि के मध्य आग की लपट हो— पर ऐसी लपट जो आँखों को ताप न देकर शीतलता पहुँचाने वाली हो और ऐसा धुआँ जो दर्शकों के नेत्रों में जलन और कड़वाहट पैदा न कर सुखकारी हो अथवा असीम शोभा पर शृंगार रस छा गया हो। यहाँ कवि ने बिजली के उपमान द्वारा दीप्ति, चाँदनी द्वारा मसृण मृदुलता, लपट द्वारा लालिमा एवं शोभा द्वारा हृदयावर्जकता की बड़ी सरस व्यंजना की है। प्रसाद को भी लालिमायुक्त अंग-दीप्ति की समन्वित अभिव्यक्ति के लिए गुलाबी बिजली के फूल का उपमान कल्पित करना पड़ा था। सुजान की अंग-यष्टि का यह अप्रतिम लावण्य इतना अकूल, अछोर था कि अंगों में न समाकर पृथ्वी पर बहा पड़ता था – 'अँग अँग तरंग उठै दुति की, परिहै मनौ रूप अबै धर च्वै'। अंग-दीप्ति की इससे अधिक मार्मिक व्यंजना अन्यत्र दुर्लभ है।

पर सुजान की यह कमनीयता मात्र बाह्य नहीं थी। इस बाह्य रूप के अन्तराल में एक ऐसा भाव-सौन्दर्य छिपा हुआ था, एक ऐसी अन्तस्सुषमा समाई हुई थी, अंगों की सुघड़ता के साथ अन्तर्वृत्तियों की सुघड़ता कुछ ऐसी एकरूप हो गई थी कि उसकी झलक मात्र से बड़े-से-बड़े सुजान भी अजान हुए बिना न रहते :

> लाजनि लपेटी चितवनि भेद-भाय-भरी,
> लसति ललित लोल चख-तिरछानि मैं।
> छवि को सदन गोरो बदन, रुचिर भाल,
> रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
> दसन-दमक फैलि हियें मोती-माल होति,
> पिय सों लड़कि प्रेम-पगी बतरानि मैं।
> आनँद की निधि-जगमगति छबीली बाल
> अंगनि अनंग-रंग ढुरि मुरि जानि मैं॥

अर्थात् लाज से लिपटी उसकी चँचल तिरछी चितवन गूढ़ भावों से भरी थी, विविध रहस्यमय सँकेतों से संवलित थी। उसकी मृदु, मन्द मुस्कान से माधुर्य टपका पड़ता था। वह मुस्कराती हुई प्रिय से ललककर प्यार-भरी बातें करती। दन्तपंक्ति की कान्ति फैलकर उसके वक्षःस्थल पर मुक्तामाला का भ्रम उत्पन्न करती। जब वह सविलास मुड़ती तो उसके अंगों में कामजनित छटा छहराने लगती। वह स्वयं तो आनन्दमयी थी ही, दर्शक को भी आनन्द के पारावार में विनिमज्जित कर देती।

कवि ने जिस सौन्दर्य का साक्षात्कार किया था, उसे उपर्युक्त तीन पद्यों में ही साकार कर दिया है। उसके द्वारा प्रयुक्त एक-एक विशेषण लावण्य की जिस चरमोत्कर्षमयी नवनीतपुत्तलिका का गठन करता है, बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य आपस में लिपटकर जिस सजीव, मृदुहासिनी, सुमधुरभाषिणी, रहस्यमयी, गूढ़ संकेतों

की अभिज्ञा, रसज्ञा रमणी-मूर्ति की झलक दिखाते हैं उसे घनानन्द-जैसे रसमूर्ति ही देख और दिखा सकते थे। घनानन्द के शेष काव्य में इसी सुषमा का विस्तार या पल्लवन है। इसके एक-एक अंश को लेकर उसे भाँति-भाँति से प्रस्तुत करते कवि अघाता नहीं और विशेषता यह है कि पाठक भी उसके वर्णन में कहीं एकरसता का आभास नहीं पाता। उदाहरणस्वरूप कुछ स्थल द्रष्टव्य हैं :

सुजान के चिकने केशों की आकर्षक लटें उसके गौर वदन पर बिखरकर सुहाग-बिन्दु-मण्डित भाल को शोभा प्रदान करती हैं :

चीकने चिहुर नीके आनन बिथुरि रहे,
कहा कहौं सोभा सुभ-भरे भाल सीस की।
मानौ घनआनँद सिंगार-रस सों संवारी,
चिक मैं बिलोकनि बहनि रजनीस की ॥

उसका सलज्ज भाव दिखाने के लिए कवि ने सुजान का अवगुंठनवाला रूप भी प्रस्तुत किया है :

घूँघट काढ़ि जो लाज सकेलति लाजहि लाजति है बिन काजनि।

नेत्रों के वर्णन में विशालता के साथ-साथ उनकी कान्ति, सलज्जता, रसार्द्रता, मादकता और अड़ियलपन आदि भी वर्णित है :

पानिप-पूरि खरी निखरी, रस-रासि-निकाई की नीवँहि रोपैं।
लाज-लड़ी, बड़ी सील-गसीली, सुभाय हँसीली, चितै चित लोपैं।
अंजन-अंजित-श्री घनआनँद मंजु महा उपमानि हूँ ओपैं।
तेरी सौं एरी सुजान तो आँखिन देखि ये आँखि न आवति मोपैं ॥

साथ ही कटाक्ष और उनके प्रभाव की भी सुन्दर व्यंजना की गई है।

नासिका के वर्णन में कवि ने 'गर्व से चढ़ी नाक' का उल्लेख विशेष रूप से किया है, जो सुजान के रूप-गर्व की बड़ी मार्मिक व्यंजना करता है।[1] प्रेमी के मन पर उस रूप-गर्व का भी बड़ा मारक प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार सुजान की ग्रीवा भी बड़ी गर्वीली और मान के कारण एक विशेष मुद्रा में बल खाए रहती है :

सरस सुजान घनआनँद भिजावै प्रान,
गरबीली ग्रीवा जब आनि मान पै ढुरै।

अधरों का वर्णन करते हुए कवि ने एक सर्वथा नूतन उपमान का प्रयोग किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार फाग खेलने वाली गोपी के आँचल में गुलाल भरा रहता है वैसे ही सुजान के (दाँतों के वस्त्ररूपी) अधरों में लाली भरी हुई है :

दसन-वसन ओली भरियै रहै गुलाल।

---

1. सुजानहित, पृ० 30

कवि ने एक स्थल पर सुजान के मुख को 'सिंदूरी आम'—सदृश बताया है :

सब मुख भोर ही सिंदूरा को सौ फल है ।[1]

यहाँ सिंदूरी आम की वर्णच्छटा, सुषमा एवं रसाप्लुतता से मुख की तुलना अतीव हृदयग्राही बन पड़ी है । यह उपमान सचमुच अछूता और अनूठा है ।

अधिक विस्तार में न जाकर निष्कर्ष—रूप में यह कहा जा सकता है कि रसज्ञ कवि घनानन्द की दृष्टि में केवल बाह्य रूप-सम्पद् ही पर्याप्त नहीं है । साँचे में ढली अंगयष्टि, असीम रूप-वैभव से मण्डित अंगप्रत्यंग, विच्छित्ति आदि के साथ भाव-सौन्दर्य—जैसे मुस्कान, सलज्जता, वाणी की शहद-सी मिठास, रूपगर्वजनित ऐंठ, कामसंकेतों की अभिज्ञता एव रसिकता आदि—संवलित होकर ही उस असाधारण कमनीयता की सृष्टि कर सकते हैं जिसे प्रतिपल निहारते रहने के लिए प्रेमी के नेत्र विह्वल रहते हैं, क्षण भर को भी तृप्ति नहीं मानते :

भोर तें साँझ लौं कानन-ओर निहारति बावरी नेकु न हारति ।
साँझ तें भोर लौं तारनि ताकिबो तारनि सों इकतार न टारति ।।

सुजान के रूप में कवि ने ऐसी ही असामान्य सौन्दर्य-सम्पदा का साक्षात्कार[8] किया था, जिसने उसे जीवन-भर के लिए बिना मोल का दास बना लिया ।

—हिन्दी विभाग
मेरठ कालेज, मेरठ

1, डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित 'घनानन्द-चयनिका', पृ० 19 के आधार पर ।

हमारे प्रमुख प्रकाशन

जय वर्धमान	(नाटक)	रामकुमार वर्मा
टूटते परिवेश	(नाटक)	विष्णु प्रभाकर
कुहासा और किरण	(नाटक)	विष्णु प्रभाकर
तुलसीदास	(नाटक)	गोविन्द वल्लभ पंत
प्रकाश और परछाईं	(एकांकी संग्रह)	विष्णु प्रभाकर
सर्गान्त	(काव्य)	केदारनाथ मिश्र 'प्रभात'
कालजयी	(काव्य)	भवानी प्रसाद मिश्र
अनुशासन की राह में	(निबंध)	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

भारतीय साहित्य प्रकाशन

286, चाणक्यपुरी

सदर, मेरठ—1

जयशंकर प्रसाद की छह अलभ्य कृतियाँ

1.	अभिनय चन्द्रगुप्त	(नाटक)	मूल्य 5·50
2.	प्राणमादन	(काव्य संग्रह)	5 00
3.	रसकन ढरते	(गीत संग्रह)	5·00
4.	अभिषेक	(निबन्ध संग्रह)	15.00
5.	देवरथ	(कहानी संग्रह)	4·50
6.	अग्निमित्र	(उपन्यास)	5.00

हिन्दी प्रचारक संस्थान

पो० बा० 106, पिशाचमोचन

वाराणसी—221001

बिहारी का भाषा-सौन्दर्य

डा० शारदा शर्मा

ब्रजभाषा-काव्य सौन्दर्य की विशिष्ट निधि रहा है । सौन्दर्य-दृष्टि-आधिक्य के कारण निराला ने ब्रजभाषा-कवियों की सौन्दर्य चेतना की प्रशंसा की ।[1] जो सरसता, जो अर्थ-गम्भीर्य ब्रजभाषा-काव्य में उपलब्ध है, उसका अन्यत्र अभाव है । वात्सल्य हो चाहे भक्ति, श्रृंगार हो चाहे शान्त-सभी का सुन्दर चित्र ब्रजभाषा के काव्य में उपलब्ध है ।

सौन्दर्य एक ऐसा गुण है जो मन को आकर्षित कर लेता है । सौन्दर्यानुभूति सहृदय को आनन्द से आप्लावित कर देती है । आचार्य शुक्लने अन्त: सत्ता की तदाकार परिणतिको सौन्दर्य कहा है ।[2]

सौन्दर्य प्राणीमात्र के आकर्षण का आलम्बन है । यह ललित कलाओं का अनिवार्य तत्त्व है । चित्रकार जितनी सुन्दर कल्पना कर सकता है, उसका चित्र उतना ही सुन्दर होता है । सौन्दर्य की हीकल्पना ललित कला का मुख्य आधार हैं ।[3]

काव्य के मूल दो तत्त्व हैं अनुभूति और अभिव्यक्ति । संप्रेषण के माध्यम से अनुभूति अभिव्यक्त होकर काव्य का रूप धारण करती है । कवि की चेतना जब रसात्मक रूप धारण कर लेती है तब वह काव्य-भाषा के पद पर अधिष्ठित होती है । सामान्य भाषा से काव्य-भाषा सर्वदा सरस, रसात्मक एवं प्रभावशालिनी होती है । काव्येतर भाषायें यदि जलवत् हैं तो काव्य भाषा अमृत है ।

कवि की कल्पना, विचार, अनुभूति को मूर्त रूप देने वाला साधन भाषा ही है । बिना भाषा के उच्च से उच्च भाव उसी प्रकार निस्सार है जिस प्रकार बड़े से बड़ा गायक वाणी के अभाव से युक्त होकर निर्मूल है । भाषा स्वयं एक मूर्ति है और उस मूर्ति का उपकरण है भाव । भाषा की यह मूर्त विधायिनी शक्ति जितनी ब्रजभाषा के कवियों में सहजता से प्राप्त होती है उतनी अन्यत्र नहीं । बिहारी का काव्य 'सतसई' तो भाषा सौन्दर्य का प्रत्यक्ष प्रमाण है । अन्यथा ऐसी कौनसी शक्ति है जो केवल एक रचना के आधार पर बिहारी को रीतिकाल का प्रतिनिधि कवि

1. प्रबन्ध-पद्म, पृ० 114 ।
2. चिन्तामणि, पृ० 165 ।
3. निराला : चाबुक, पृ० 28 ।

घोषित करने का दम्भ कर सकती है ? आचार्य शुक्ल ने काव्य भाषा के लिए चार गुण बताए हैं— (1) मूर्त-विधायिनी शक्ति, (2) रूप-व्यापार सूचक शक्ति, (3) वर्ण-विन्यास और नाद-सौन्दर्य, (4) साभिप्राय विशेष्यों का प्रयोग ।"[1]

बिहारी भाषा के शिल्पी हैं। उन्होंने अपनी 'सतसई' में सूक्ष्म निरीक्षण, चित्रात्मकता और भावात्मकता को स्थान दिया है। इसी का परिणाम है कि उनकी 'सतसई' दोहों का ही नहीं 'चित्रों का ग्रन्थ' भी माना जाता है। कवि के दोहे क्या हैं, चित्र हैं। कवि के शब्दों में असीमित अर्थ समाविष्ट हैं। एक-एक दोहा अनेक अर्थों का द्योतक है। इसीलिए तो कल्पना की समाहार शक्ति का तथा भाषा की सामासिक शैली का अधिकारी बिहारी को ही बताया गया है।

कवि के भाव को या काव्य के अर्थ को अधिक से अधिक सफलतापूर्वक व्यक्त करने की शक्ति भाषा में ही है। कवि अपनी भाषा में प्रतीक, बिम्ब, अलकार, गुण, शब्द-शक्ति आदि का प्रयोग इसी अर्थ-बोध के लिए करता है। कविता का सौन्दर्य उसकी पूर्णता में निहित रहता है, उसके खण्डों में नहीं। कविता का सौन्दर्य केवल वर्ण, शब्द, छन्द, रस या अलकार में नहीं है अपितु उन सबके एक उचित सानुपातिक प्रयोग में है।

बिहारी के भाषा-सौन्दर्य के प्रमुख सोपानों में उनके काव्य-सौन्दर्य की ही झांकी प्रस्तुत है।

संयुक्ताक्षरों के स्थान पर स्वरभक्ति के द्वारा श्रुति-प्रिय शब्दों का प्रयोग— द्युति, दर्पण, कर्कश, स्पर्श आदि कर्ण कटु और संयुक्ताक्षरों के स्थान पर दुति, दरपन, करकस, परसि आदि कोमल रूप पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं—

'डीठिन परतु समान-दुति कनकु कनकु सें गात।
भूषन कर करकस लगत परसि पिछाने जात।

इतना ही नहीं, क्ष, ण जैसे कर्ण-कटु वर्णों का स्थान भी कर्ण-प्रिय छ, न कोमल वर्णों ने ले लिया है—

'ये तेरे सब तें बिसम ईछन तीछन बान ?'

यहां ईक्षण, तीक्ष्ण आदि के स्थान पर ईछन, तीछन शब्दों के प्रयोग कर्ण-प्रिय और कोमल रूप में तो उपस्थित ही हैं, साथ ही भाषा सौन्दर्य-वृद्धि के द्योतक भी हैं।

अलंकार का ज्ञान काव्य में भाषा के द्वारा ही होता है। संस्कृताचार्यों ने अलंकार को सौन्दर्य की संज्ञा दी है। बिहारी के काव्य में अनुप्रास, यमक, श्लेष, विरोधाभास आदि अलंकारों के द्वारा भाषा-सौन्दर्य में निखार आया है—

यमक— कनक कनक तें सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाएँ बौराइ, इहिं पाएँ हीं बौराइ ॥

---

1. चिन्तामणि (प्रथम भाग), पृ० 175।

श्लेष— चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गंभीर ।
को घटि ए बृषभानुजा, वे हलधर के बीर ।

विरोधाभास— या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहि कोइ ।
ज्यौं-ज्यौं बूडै स्याम रंग, त्यौं-त्यों उज्जलु होइ ।।

काव्य में लाक्षणिक प्रयोग अचूक तीर का कार्य करते हैं । बिहारी के काव्य में 'गर्मी' के स्थान पर 'गरम', 'रीझना' के अर्थ में 'कटना' आदि लाक्षणिक प्रयोग यत्र-तत्र उपलब्ध हैं—

रहि न सकी सब जगत मैं, सिसिर-सीत कें त्रास ।
गरम माजि गढ़वै भई तिय-कुच अचल मवास ।।

+ + +

पूछें क्यों रूखी परति, सगि बगि गई सनेह
मनमोहन-छबि पर कटी, कहै कंटयानी देह ।।

रूप-वर्णन, क्रिया विदग्धता अथवा वाग्विदग्धताओं के वर्णन में व्यंजना की प्रधानता बिहारी की भाषा की विशिष्टता रही है । ये वर्णन अलंकृत और अनलंकृत दोनों ही रूपों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं—

अलंकृत रूप में—लखि गुरुजन-बिच कमल सौं सीसु छुवायो स्याम ।
हरि-सनमुख करि आरसी हियैं लगाई बाम ।।

अनलंकृत रूप में— गोरी गदकारी परें हसत कपोलनु गाड़ ।
कैसी लसति गवाँरि यह सुन किरवा की आड़ ।।

संस्कृत-साहित्य में भाषा के तीन गुण स्वीकार किए गए हैं—प्रसाद, माधुर्य और ओज । श्रृंगार-वर्णन में माधुर्य, प्रसाद और ओज का समावेश सोने में सुहागे का कार्य करता है । प्रसाद और माधुर्यतो श्रृगार में सहज सुलभ होते हैं—

असन-बरन तरुनी-चरन अंगुरी अति सुकुमार ।
चुवत सुरंग रंगु सी मनौ चपि बिछियनु कें भार।।

बिहारी की विशिष्टता रही है श्रृंगार मे ओज गुण का समावेश । कवि ने श्रृंगार में ओज का प्रयोग बड़े कौशल से किया है—

कहत, नटत, रीझत, खिझत, मिलत, खिलत, लजियात ।
भरे भौन मैं करत हैं नैनन हीं सब बात ।।

यहां आनाकानी है, आक्रोश है-किन्तु आक्रोश का उत्तर और परिणाम आक्रोश नहीं, प्रेम है । 'त' वर्ण की आवृति से कवि ने ओज में भी माधुर्य का आभास करा दिया है ।

'मूर्त विधायिनी' भाषा को काव्योपयुक्त माना गया है । भाषा का कार्य केवल 'अर्थज्ञान' मात्र कराना नहीं है अपितु 'बिम्ब ग्रहण' कराना है । बिहारी की भाषा इसी कसौटी पर खरी उतरती है । लगता है 'बिहारी सतसई' का एक-एक दोहा एक-एक चित्र है—

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ ।
सौंह करें भौंहनु हंसै, दैन कहैं नटि जाइ ॥

'प्रतीक' भावाभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम रहा है । गूढ़ से गूढ़ तथ्य, कटु से कटु सत्य—बड़े महज रूप में प्रतीक के द्वारा स्पष्ट हो जाते हैं । 'अन्योक्ति' का सहारा लेकर कवि ने 'अलि' को राजा जयसिंह और उनकी नव नवेली को 'कली' के प्रतीक के रूप में उपस्थित करके जिस ध्वनि का संकेत किया है, वह बिहारी जैसे शब्द पारखी के लिए ही सम्भव है—

नहि परागु, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकासु इहिं काल ।
अली कली ही सौं बंध्यौ, आगैं कौन हवाल ॥

अपने आश्रयदाता को उसके दोष-दर्शन कराना कोई सरल कार्य नहीं, किन्तु बिहारी ने शब्द-चातुर्य से उसका जो संकेत किया है, वह बिहारी के कटु से कटु आलोचक के लिए भी बिहारी की वाह-वाही का उपकरण बन गया है ।

भाव और भाषा का मणिकान्चन संयोग बिहारी-काव्य में बड़े सहज रूप में हुआ है । सर्व सुन्दर भावों को सर्व सुन्दर शब्दों के द्वारा सजाना कवि-कर्म है ।

बिहारी भाषा के अधिकारी थे । वे शब्दों के पारखी थे । यही कारण है कि 'मुक्तक' के लघु कलेवर में भाषा की चुस्ती, कसावट और सशक्तता के द्वारा अपार भाव-राशि भरने में बिहारी अग्रणी रहे हैं । ब्रजभाषा में समासों का प्रयोग बिहारी की कुशलता का ही परिणाम है । इनके काव्य में दो-तीन और चार-पांच शब्दों तक के समास प्रयुक्त हुए हैं—

अ– द्वैज-सुधादीधिति-कला वह लखि, दीठि लगाइ ।
ब– चित पितमारक-जोगु गनि भयौ, भयैं सुत, सोगु ।
स– विर्कात-नवमल्ली-कुसुम-निकसित परिमल पाइ ।
द– रनित-भृंग-घंटावली, झरित दान मधु-नीरु ।

उपर्युक्त प्रथम और द्वितीय उदाहरण दो-तीन तथा तृतीय और चतुर्थ उदाहरण चार-पांच शब्दों के समासों के श्रेष्ठ उदाहरण हैं ।

भाषा की सामासिकता का ही परिणाम है कि बिहारी ने दो पंक्तियों के छन्द दोहे में अर्थों की भाव-राशि समाविष्ट कर दी है । 'रहीम' ने दोहे की सामासिकता को ध्यान में रखकर कहा है—

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे आहिं ।
ज्यों 'रहीम' नट कुण्डली सिमिट कूदि चढ़ि जाहिं ।

दोहे में भावों और शब्दों को उसी प्रकार समेटना पड़ता है जिस प्रकार जलते हुए गोले के बीच से अपने तन को खूब तौलकर और सिमटाकर नट निकल जाता है । बिहारी की समास-शक्ति का ही परिणाम है कि 'अमरुक शतक' के चार पंक्तियों के श्लोक को दो ही पंक्तियों में भव्य एवं रम्य रूप दे दिया है—

मैं मिसहा सोयौ समुझि मुहुं चूम्यौ ढिग जाय।
हंस्यौ, खिसानी, गल गह्यौ, रही गरें लपटाय॥

बिहारी की भाषा-संबधी एक और विशेषता रही है । उन्होंने भाषा को किसी विशेष सीमा के बंधन में बाँध कर संकुचित नहीं होने दिया, अपितु उसे विकास का पूर्ण अवसर दिया है। यही कारण है कि उनके काव्य मे संस्कृत, प्राकृत, उर्दू, फारसी आदि के तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशी शब्द अवसरानुकूल प्रयुक्त हुए हैं ।

भाषा को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए जितने भी सोपान हो सकते हैं, उन सब का प्रयोग बिहारी-काव्य में उपलब्ध है। क्या शब्द-शक्ति, क्या अलंकार और क्या मुहावरे-लोकोक्तियाँ। एक दोहे में ही विभिन्न मुहावरों को देखा जा सकता है–

जो चाहत, चटक न घटै, मैलो होइ न मित्त।
रज राजस न छुवाइ, तौ नेह चीकनौं चित्त ॥

निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि बिहारी का काव्य किसी जौहरी की दुकान है जिसका कि प्रत्येक शब्द एक बहुमूल्य रत्न है। जिस शब्द-रत्न को उठाओ, वही आभायुक्त है। यह आभा शब्द-रत्न की तो है, साथ ही उस कारीगर की भी है जिसने काव्याभूषण में शब्द-रत्न जड़ा है । उसमें कहो भी तो अनौचित्य नहीं। सौन्दर्य सहृदय संवेद्य होता है। 'बिहारी-सतसई' काव्य-प्रेमियों के लिए ही नहीं, सौन्दर्य शास्त्रियों के लिए भी एक अद्वितीय काव्य है। शृंगार-प्रधान सौन्दर्य-निधि 'बिहारी सतसई' का सानी अभी तक अनुपलब्ध है।

हिन्दी विभाग
एम. एल. जे. एन. के. गर्ल्स कालेज
सहारनपुर.

छायावादी काव्य में सौंदर्य की नई उद्भावनाएं

डा० शान्ति सक्सेना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में पहली बार सौन्दर्य की विशद काव्यात्मक अभिव्यक्ति छायावादी काव्य में हुई। भक्तिकाव्य में जिस प्रकार अलौकिक को लौकिक बनाया गया, उसी प्रकार छायावादी काव्य में लौकिक को अलौकिकता के धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया। इस काव्यधारा में लौकिक वस्तु और लौकिक सौन्दर्य के माध्यम से आत्मतत्त्व को प्राप्त करने का प्रयास सर्वथा सराहनीय है। प्रकृति-सौन्दर्य के साथ ही मानव संवेदनाओं के स्थूल तथा व्यक्त सौन्दर्य से परे जो अव्यक्त तत्त्व है, उसको जान लेने की जैसी प्रबल उत्कंठा इस काल में जगी वैसी हिन्दी कविता में पहले कभी नहीं जगी थी। इस युग में मानवीय-सौन्दर्य (शारीरिक तथा संवेदनात्मक) तथा वस्तुगत एवं प्रकृतिगत सौन्दर्य पर कवियों की संश्लिष्ट दृष्टि रही और इन सबका विश्लेषण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर धरातल पर हुआ। इस युग में पहली बार कवियों की दृष्टि संसार की प्राय: हर वस्तु पर गई और उस वस्तु के सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवेश का उद्घाटन किया गया। विराट हिमालय के सौन्दर्य से लेकर क्षुद्र चींटी तक के सौन्दर्य पर कवियों की दृष्टि गई। छायावादी-युग में आकर कवियों की दृष्टि इतनी महिम हो गई कि सृष्टि के कण-कण एवं मानवीय संवेदना का कोना-कोना लोकोत्तर सौन्दर्य से स्नात दिखाई देने लगा। कवियों की इस दृष्टि मे कल्पनातत्त्व का व्यापक समावेश हुआ। सौन्दर्य का आधार तो लौकिक रहा किन्तु कल्पना-तत्त्व के समावेश से उसमें आध्यात्मिकता का प्रवेश हुआ।

वीरगाथा काल तथा रीतिकाल के कवि केवल स्थूल रूप को ही देख सके और वह स्थूल दृष्टि भी केवल युद्ध और नारी तक ही सीमित रही। भक्तिकाल में कवियों की दृष्टि अलौकिक जरूर रही लेकिन कुछ सच्चे ज्ञानियों और भक्तों को छोड़ कर अधिकांश कवि संसार के पदार्थों को माया मोह के बंधन कहकर उन्हें त्यागने की बात कहते रहे। छायावादी-काव्यधारा में आकर इस मनोमालिन्य का ह्रास हुआ। छायावादी कवियों की हिन्दी साहित्य को यह बहुत बड़ी देन है।

सौन्नर्य-शास्त्र की मान्यता के अनुसार सौन्दर्य परम चेतन के आनन्द पक्ष से निःसृत है। संभवतः इसीलिए छायावादी-कवियों की दृष्टि में अलौकिकता का विशेष समावेश हुआ। इस काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सम्पूर्ण मानवीय-संवेदना को उदात्त बनाने का प्रयास हुआ। विरह और आँसू में एक नैसर्गिक सौन्दर्य की उद्‌भावना हुई। छायावादी-कवि सदैव स्थूल से सूक्ष्म और भोग से त्याग की ओर उन्मुख रहे। कवि प्रसाद ने बाह्य वर्णन से भिन्न, वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति को छायावाद ठहरा कर उसमें ऐसे भिन्न प्रकार के (रीतिकालीन काव्य की तुलना मे) भावों की नये ढग से अभिव्यक्ति बताई है जो आन्तरिक स्पर्श से पुलकित होते हैं।[1] कवि की मानसिकता, उसकी संवेदना का सर्वत्र छायावादी-काव्य मे समादर हुआ। इस मानसिकता को सौन्दर्य-दृष्टि ने अधिकाधिक उज्ज्वल और उदात्त बनाया। कवयित्री महादेवी वर्मा कहती हैं—

'सौन्दर्य-बोध स्वयं एक भाव है, अतः उसकी अनुभूति के लिये बाह्य रेखाओं से अधिक ग्रहण करने वाले की मानसिक स्थिति का महत्त्व रहता है। किसी वस्तु की आकृति, रेखायें, रंग आदि का सामंजस्य भी मानसिक स्वीकृति की अपेक्षा रखता है।'[2]

कल्पना-प्रवण व आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण छायावादीकाव्य में रहस्यात्मकता का भी आगमन हुआ है। इसे स्वयं महादेवी ने इन शब्दों में स्वीकार किया है

"कलाकार के लिये सौन्दर्य में ही रहस्य की अनुभूति सहज है, अतः वह सौन्दर्य को इतिवृत्त बना कर कहने का प्रयास नहीं करता।"[3]

इस प्रकार, छायावादी-कवियों ने सौन्दर्य को केवल व्यक्ति या पदार्थ का बाह्य गुण ही नहीं माना बल्कि इसे ईश्वरीय विभूति समझा। सौन्दर्य ब्रह्म का साक्षात रूप है। 'कामायनी' मे प्रसाद कहते हैं—

उज्ज्वज वरदान चेतना का सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं,
जिसमें अनन्त अभिलाषा के सपने सब जगते रहते हैं।

इस दैवी अनुभूति को मनुष्य ही पहचान सकता है इसलिये मनुष्य को कवि पन्त सर्वाधिक सुन्दर बतलाते हैं—

'सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम'

1. काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ । 143
2, संकल्पिता, पृष्ठ 86
3. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबन्ध, पृष्ठ 86

हर वस्तु का सौन्दर्य अपने भीतर एक दैवी शक्ति को छिपाये हुये है। इसे कोई देखे या न देखे, छायावादी कवि तो देख ही लेता है—

मैं देख रहा हूँ जो कुछ भी, वह सब क्या छाया उलझन है,
सुन्दरता के इस परदे में, क्या अन्य धरा कोई घन हैं ?[1]

सौन्दर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है। यह ब्रह्म की छाया है। जहाँ शिव और सुन्दर रहेगा वहाँ सत्य तो अपने आप प्रगट हो जायेगा। सौन्दर्य अपने में सत्य की छाया भी लिये हुये है। कवि प्रसाद कहते हैं—

'मानवी या प्राकृतिक सुखमा सभी, दिव्य शिल्पी के कला कौशल सभी।
देखलो जी भर इसे देखा करो. इस कलम से चित्र पर रेखा करो।
लिखते-लिखते चित्र वह बन जायगा, सत्य सुन्दर तब प्रकट हो जायेगा।'[2]

प्रकृति-सौन्दर्य-जितना महिम है, मानव-सौन्दर्य भी उतना ही पुनीत है। वह भी सत्य शिव सुन्दर की महिमा से मंडित है। इसीलिये छायावादी कवि प्रसाद ने नारी सौन्दर्य में पवित्रता को विशेष स्थान दिया है—

'नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है,
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।'[3]

सौन्दर्य को पा कर भी जो तृप्त नहीं होता और जिसका मन, मस्तिष्क अलौकिक सुख की भावना से परितृप्त नहीं होता उसमें सौन्दर्य की महिमा ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती। ऐसा व्यक्ति सौन्दर्य के शिव तत्व के स्थान पर अशिव तत्त्व को ग्रहण करता है। कवि प्रसाद ने ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है—

'तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र
सौन्दर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र।'[4]

छायावादी-कवियों की सौन्दर्य-दृष्टि एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है। जीवन, जगत का कोई अग इस चमत्कार से अछूता नहीं है। कवि पन्त के लिये तो सारी सृष्टि ही सौन्दर्य का आगार है। वे इसी दृष्टि से सबको देखते और उसका परिचय लेते हैं। कवि पन्त कहते हैं—

देखूँ सब के उर की डाली,
किसने रे क्या-क्या चुने फूल, जग के छवि-उपवन से अकूल
इसमें कलि, किसलय, कुसुम शूल।[5]

---

1. प्रसाद : कामायनी, 'काम' सर्ग
2. कानन कुसुम, पृ० 49
3. लहर, पृ० 86
4. कामायनी 'इडा' सर्ग
5. गुंजन, पृ० 39

सौन्दर्योपासक होने के नाते सौन्दर्य की आध्यात्मिक गहराई में डूबते हुये भी छायावादी-कवि संसार से विमुख नहीं हुये। उनकी कामना संसार की कुरूपता से भागना नहीं बल्कि इस सृष्टि के कण-कण को सौन्दर्य से मंडित करना थी। छायावादी कवियों की यह भावना भक्तिकालीन कवियों की अपेक्षा इन्हें एक अत्याधुनिक सुष्ठु रूप प्रदान करती है। कवि पन्त संसार को कैसा देखना चाहते हैं, देखिये—

राशि राशि सौन्दर्य, प्रेम, आनन्द, गुणों का द्वार।
मुझे लुभाता रूप, रंग, रेखा का यह संसार।[1]

छायावादी कवियों का मन-मस्तिष्क सौन्दर्य की अलौकिक छवि से आप्लावित हो उठा था। तभी तो वे इस संसार में, समस्त प्रकृति, जगत तथा मानव-मन में उसकी जागृत छवि देख पाते थे। स्वयं अपने मन की दशा को कवि ने इस प्रकार वर्णित किया है—

सुन्दरता का आलोक स्रोत है फूट पड़ा मेरे मन में,
जिससे नव जीवन का प्रभात होगा फिर जग के आँगन में।[2]

छायावादी-कवियों ने सौन्दर्य को जीवन के हर क्षेत्र में उतारा है। बाह्य सौन्दर्य ही नहीं, आन्तरिक और आचरणगत सौन्दर्य को भी कवि ने उतना ही आवश्यक माना जितना व्यक्ति के लिए श्वास-प्रश्वास क्रिया आवश्यक है। इस सौन्दर्य के अभाव में व्यक्ति मृतक के समान संज्ञाशून्य है। कवि पन्त कहते हैं—

सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे सुखमय जीवन,
ज्यों सहज-सहज सांसों से चलता उर का मृदु स्पंदन।[3]

कवि प्रसाद ने भी सौन्दर्य से नेत्रों की तृप्ति ग्रहण की है—

और देखा वह सुन्दर दृश्य, नयन का इन्द्रजाल अभिराम,
कुसुम वैभव में लता समान चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।[4]

सौन्दर्य का श्रृंगार से घनिष्ठ संबंध है। श्रृंगार सौन्दर्य को द्विगुणित करता है। प्रिय-मिलन के लिये श्रृंगार भारतीय परम्परा में मंगल का सूचक है। छायावादी कवियों ने मनुष्य क्या प्रकृति तक का श्रृंगार किया और उसके सौन्दर्य से मानवीय संवेदनाओं को परितृप्त किया। महादेवी वर्मा को देखिये—

तारकमय नव वेणीबन्धन
शीश-फूल कर शशि का नूतन,

---

1. युगवाणी, पृ० 76
2. युगान्त, पृ० 27
3. गुंजन, पृष्ठ 20।
4. कामायनी, 'श्रद्धा' सर्ग।

रश्मि-वलय सित घन अवगुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
पुलकती आ बसन्त-रजनी ![1]

प्रकृति को ही नहीं, अपने व्यक्तित्व को भी महादेवी जी सौन्दर्य की लालिमा से मंडित करना चाहती हैं। प्रकृति सौन्दर्य की खान है। वे उसी प्रकृति से अपना शृंगार करना चाहती हैं—

यूथी की मीलित कलियों से,
अलि दे मेरी कबरी संवार !
पाटल के सुरभित रंगों से,
रंग दे हिम सा उज्ज्वल दुकूल,
गुथ दे रसना में अलि-गुंजन से
पूरित झरते वकुल-फूल,
रजनी से अंजन माँग सजनि
दे मेरे अलसित नयन सार ![2]

छायावाद के दृढ़ स्तंभ कवि निराला, जो सौन्दर्य के ही नहीं बल्कि सौन्दर्य की गूढ़ता के भी उपासक हैं, प्रकृति सौन्दर्य में प्रणयजनित आकर्षण के प्रति निवेदन करते हैं—

प्रकृति बैठी पालने, अतांद्र
जगत् के पलकों पर आसीन……
खुला जीवन में प्रणय-सुहाग,
कला प्रिय-अकल-ध्यान में लीन।[3]

छायावादी-कवियो ने वस्तु और प्रकृति के सौन्दर्य तक ही अपने को सीमित नहीं रखा बल्कि मानवीय-संवेदनाओं का गूढ़ विश्लेषण भी इन्होंने किया। प्रणय के विफलताजन्य वियोग, दुःख, ज्वाला, पीड़ा और आँसू में भी विराट सौन्दर्य के दर्शन छायावादी कवियों की मौलिक उद्‌भावना है। दूसरे लोग जहाँ वियोग और पीड़ा से दूर भागना चाहते हैं, वहां छायावादी कवि इन्हें जीवन को उज्ज्वलतर बनाने के लिये आवश्यक मानता है। विशिष्ट चेतना से सम्पन्न व्यक्ति में ही यह महानता देखी जा सकती है। देखिये, छायावादी कवियों ने मानवीय संवेदनाओं को परिष्कृत करके किस उज्ज्वल चरित्र का प्रतिपादन किया है—

---

1. नीरजा, पृ० 12।
2. सांध्यगीत, पृष्ठ 28।
3. गीतिका, पृ० 78।

इस विकल वेदना को ले, किसने सुख को ललकारा।
वह एक अबोध अकिंचन, बेसुध चैतन्य हमारा।।[1]

स्वयं दुःख और वियोग सहकर कवि दूसरों के लिये सुख की वर्षा करता है। अभिशाप स्वयं झेलकर कवि संसार के लिये कल्याण की कामना करता है। सौभाग्य की भांति दुर्भाग्य भी जीवन का अनिवार्य पक्ष है। दुर्भाग्य की सुखद स्वीकृति में सौन्दर्य का महत पक्ष सन्निहित है। प्रणय में विफल होने से प्राप्त वेदना में भी कवि कहता है—

निर्मम जगती को तेरा मंगलमय मिले उजाला
इस जलते हुये हृदय की कल्याणी शीतल ज्वाल।[2]
जिसकी विशाल छाया में जग बालक सा सोता है,
मेरी आँखों में वह दुख करुणा बनकर खोता है।[3]

जलता हुआ हृदय अपनी कल्याणी शीतल छाया से संसार में मंगल की वर्षा करता है। दूसरी ओर आंखों का दुःख और करुणा-भाव संसार के लिये एक विशाल छाया का निर्माण करता है। भौतिक-प्रेम में छल, कपट और धोखा आम बात है किन्तु इन सब स्थितियों में भी सौन्दर्य की अनुपम छाया देखना अवश्य आम बात नहीं है। यही छायावादी कवियों की विशिष्ट सौन्दर्यानुभूति है। कवि प्रसाद 'आंसू' में कहते हैं—

छलना थी फिर भी मेरा उसमें विश्वास घना था
उस माया की छाया में कुछ सच्चा स्वयं बना था।

प्रेम हृदय का एक स्वाभाविक धर्म है। इसमें किसी को क्या प्रतिदान मिलता है—यह दूसरा पक्ष है। लेकिन इसके प्रतिदान के ऊपर प्रेम का स्वाभाविक धर्म निर्भर नहीं करता। प्रणय की विफलता पर छायावादी कवियों ने आंसू नहीं बहाये बल्कि उसे भी सौन्दर्य की एक विभूति समझकर अपनाया। कवि पन्त 'ग्रन्थि' में यही कहते हैं—

आज मैं सब भांति सुख सम्पन्न हूं, वेदना के इस मनोरम विपिन में।
विजन छाया में द्रुमों की, योग सी, विचरती है आज मेरी वेदना।।

वेदना की एक लम्बी अनुभूति कवि के मन में स्वर्ग का सुख निछावर करती है। यह क्या अपने आप में एक विलक्षण सौन्दर्य नहीं है? पन्त जी पुनः कहते हैं—

वेदना से भी निरापद क्या अहा और कोई शरण है संसार में।
वेदना से भी अधिक निर्भय तथा निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का।।

विरह अभावजनित होता है किन्तु यह अभाव भी जीवन को कितने सुखद अनुभवों से भर देता है, इसकी बड़ी गहरी अनुभूति छायावादी कवियों को हुई है।

1. प्रसाद : आंसू।
2. वही
3. महादेवी: यामा।

विरह में जलकर दुर्बलताएं सफलताओं में परिणत हो जाती हैं—यह इस वियोगावस्था का चरम सौन्दर्य है। कवि पन्त ने कहा है—

प्रेम वंचित को तथा कंगाल को है कहाँ आश्रय विरह की वह्नि में।
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा हो गई परिणत विरत सी शक्ति में॥

महादेवी वर्मा के लिये तो सर्वाधिक सौन्दर्य विरह और पीड़ा में ही केन्द्रित है। इसीलिये उन्होंने कहा है—

एक ज्वाला के बिना मैं राख का घर हूं।

यदि कभी कोई महादेवी जी को सुख और मिलन की मधुरता की याद दिलाता भी है तो वे इतना ही कहना चाहती हैं—

अब विरह की रात को तू चिर मिलन का प्रात रे कह।

संसार पीड़ा से दूर भागना चाहता है क्योंकि वह भौतिक सुख को ही जीवन का चरम मानता है। किन्तु सुख क्षणभंगुर है और वेदना जीवन का सत्य है। वेदना मन को विस्तार देती है। विरह में सारी सृष्टि के साथ आत्मिक संबंध स्थापित होता है। इसीलिये महादेवी विरह के प्रति भयभीत लोगों से कहती हैं—

मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर हूं।

चाहे सारा संसार आँसू और विरह से दूर भागता हो लेकिन छायावादी कवियों ने इन दोनों में विलक्षण सौन्दर्य को देखा और इस प्रकार एक अनूठी मौलिकता को जन्म दिया। प्रसाद को अपने आँसू पर कितना गर्व है—

सबका निचोड़ लेकर तुम सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकण सा आँसू इस विश्व सदन में।

अतएव, मेरी दृष्टि में, छायावादी कवियों के द्वारा दुःखवाद का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया वह जीवन का उदात्त दर्शन है। इसके साथ ही सम्पूर्ण जगत के चर-अचर जीव के प्रति जो कल्पनाशील दृष्टि अपनाई गई उससे भी सौन्दर्य का दिव्य दर्शन प्रतिपादित हुआ है। ये दोनों ही उपलब्धियां छायावादी-काव्यधारा को महिम बनाती हैं।

—हिन्दी विभाग
इस्माईल डिग्री कालेज
मेरठ।

प्रसाद की सौंदर्य-भावना

डा० एस० टी० नरसिंहाचारी

साहित्यिक दृष्टि से छायावाद की विशिष्टता उसके कल्पनाशील सौंदर्यबोध में है जो नैसर्गिक और अनुभूतिमूलक है। इस दृष्टि से सौंदर्य का सबसे व्यापक चित्रण प्रसाद साहित्य में मिलता है। साहित्य की सभी विधाओं में उसकी अनेक रंगीन छवियां मिल जाती हैं। सौंदर्य की सूक्ष्म व्यंजना में गद्य-साहित्य की विधाएं भी काव्यात्मक हो गई हैं। इस व्यापक चित्रण के कारण, कलाकार का व्यक्तित्व, साहित्यिक प्रवृत्ति और जीवन-दर्शन हैं। प्रसाद मूलतः भावनाशील-कल्पनाशील कवि हैं। दार्शनिक-मानवीय चिंतन उसका आवरण मात्र है या उसकी आधारभूमि। कवि के इस कलात्मक व्यक्तित्व का उन्मेष सहज ही स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के रूप में हुआ है। प्रसाद-साहित्य की अन्य प्रवृत्तियां स्वच्छन्दतावादी प्रधान प्रवृत्ति को पुष्ट करने वाली हैं। क्लासिकल मर्यादावादी प्रवृत्ति उसे सन्तुलित और मर्यादाबद्ध सामाजिक रूप देती है, यथार्थवादी प्रवृत्ति उसे वास्तविकता की सजीवता प्रदान करती है और मानवतावादी प्रवृत्ति उसे उदात्त बनाती है। स्वच्छन्दतावाद स्वयं कल्पना और सौंदर्य की क्रीडा भूमि है। प्रसाद के जीवन दर्शन ने उनकी क्रिया-शीलता को पूरा अवसर प्रदान किया है। वे आनन्दवादी हैं। लौकिक धरातल पर आनन्द के स्रोत सौंदर्य, प्रेम और करुणा हैं जो प्रसाद-साहित्य की भावधारा की त्रिवेणी है। आनन्दवाद के दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक पहलुओं ने प्रसाद की सौंदर्य भावना को क्रमशः आध्यात्मिक चेतना, अनुभूति की गहराई और संस्कार की गरिमा देकर उसे एक विशिष्ट रूप में ढाला है।

दार्शनिक के रूप में सृष्टि के सत्य और शिव को महत्व देते हुए भी प्रसाद उसके व्यक्त रूप से ही विशेष आकृष्ट हैं। शैवागमों से प्रभावित प्रवृत्तिमूलक आनन्दवाद इसका कारण है। सौंदर्य ऐन्द्रिय रूप पर आधारित है। वह चेतनागत और आध्यात्मिक हो सकता है, लेकिन इन्द्रियगोचर रूप में ही उसकी अनुभूति की संभावना है। रूप सौंदर्य 'नयन का इन्द्रजाल अभिराम' है।[1] उससे नीलम की घाटी में रस-घन छा जाते हैं।[2] हरिश्चन्द्र युग की चलती शृंगार परम्परा से सम्बद्ध प्रसाद की कविता में अन्य छायावादी कवियों की तरह रीतिकालीन ऐन्द्रिय मांसलता

की प्रतिक्रिया नहीं मिलती। व्यक्त ऐन्द्रिय रूप की विशेषताएं आकृति का आनुपातिक सौष्ठव, अवयव-पुष्टि, रंग की दीप्ति आदि हैं। नील परिधान बीच कामायनी का सुकुमार मृदुल अधखुला अंग खुल रहा है।[3] बेला का "यौवन सुगठित शरीर के भीतर उद्वेलित हो रहा है।"[4] चंचला चन्द्रिका पर्व में स्नान करने पर ही शरीर की शोभा या दीप्ति पा सकती है।[5] प्रसाद ने समष्टि रूप के साथ स्फुट अवयवों के आकर्षण का भी वर्णन किया है, यद्यपि नख-शिख का पूरा निर्वाह नहीं किया गया। अवयव सौंदर्य वर्णन में मुख और नेत्र की प्रधानता है जिनमें सौंदर्य की ज्योति प्रतिफलित होती है; विशेषत: नेत्रों की सजीवता में। ऐन्द्रिय सौंदर्य का पूर्ण उन्मेष यौवन में होता है, इसलिए खिले हुए फूल के साथ उसकी तुलना की गई है।[6] वह माधुरी से भीगा और मोद से भरा हुआ है।[7] यौवन की दीप्ति का शरीर के रंग से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रसाद की अधिकांश नायिकाएं श्याम वर्ण की हैं। 'देवदासी' की पद्मा "उज्ज्वल श्याम वर्ण" की बालिका है।[8] 'पाप की पराजय' की भील युवती 'इन्द्रनील की पुतली' है।[9] संक्षेप में बाह्य रूप का यह सौंदर्य स्थिति-शील मुद्रा की विशेषता है जिसकी उपमा मूर्तिकला के अंगांग सौष्ठव से दी जा सकती है।[10] यह स्थितिशील रूप यौवन के सहज हावभावों और चेष्टाओं से गतिशील सौंदर्य में परिणत होता है। तब कवि विस्मय-विमूढ होकर कह उठता है—"व्रीडा है यह चंचल कितनी विभ्रम से घूंघट खींच रही।"[11]

प्रसाद सौंदर्य को चेतनागत मानते हैं। लेकिन उसकी अभिव्यक्ति रूप के माध्यम से ही होती है। चेतना के आलोक से रूप उज्ज्वल हो उठता है। सौंदर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है।[12] दार्शनिक दृष्टि से चिति या चेतना से ही सृष्टि का अभिराम उन्मीलन होता है।[13] चेतना की सजीवता में ही सौंदर्य मानने के कारण इडा के सम्बन्ध में कवि कहते हैं कि उसमें 'जडता का कुछ भास नहीं' है।[14] और 'अरे कौन आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हैमवती छाया"।[15] चेतना का सौंदर्य आलोकमय है। सौंदर्य का यह आलोक, रूप से पारदर्शी होता है। जहां आलोक ही रूप बनता है,[16] वहां सौंदर्य की चरम सीमा है। कवि ने सौंदर्य के इस आलोक को इन्द्रनील लघु श्रृंग को फोड़कर धधकने वाली ज्वालामुखी की लघु ज्वाला कहा है।[17] वह प्रायः स्मिति रूप में व्यक्त होता है। स्मिति के मूल में आलोक के साथ स्फूर्ति और उल्लास की तरलता भी है। इसीलिए "मधु ऊषा के अंचल में विकसित सित सरसिजवन वैभव" का भी उससे उपहास हो जाता है।"[18] आचार्यों ने इस अन्त:सौंदर्य को लावण्य की संज्ञा दी। इरावती' के कालिन्दी के "अंग-अंग में लावण्य की ज्योति ! यौवन का स्फुलिंग छूट रहा था।"[19] कवि ने इस सौंदर्य को प्रभाव के माध्यम से व्यक्त किया है— इडा "अन्धकार को दूर भगाती वह आलोक किरन सी" है।[20]

इस अन्त:सौंदर्य को पुष्ट और सजीव बनाने वाली दो विशेषताएं हैं। पहली व्यक्तित्व और प्रतिभा है। "प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल" जब इडा बोलने

लगती है तो मनु उसके प्रभाव में आ जाते हैं। 'नीरा' कहानी में देव-निवास नीरा के व्यक्तित्व के कारण ही उसकी ओर आकृष्ट होता है—"निवास ने देखा कि नीरा के मुख पर आत्मनिर्भरता और संतोष की गम्भीर शान्ति है।"[21]

दूसरी विशेषता भावात्मक स्पंदनशीलता और क्रियाशीलता है जो वास्तव में चेतना की अभिव्यक्ति के पहलू हैं। भावना और क्रिया अपने में सुन्दर-असुन्दर नहीं होतीं; वे सत्यासत्य या शिवाशिव से सम्बन्धित हैं। लेकिन कोमल भावनाओं और आकर्षक भंगिमा से युक्त गति या क्रिया से अपूर्व सौंदर्य का उन्मीलन हो जाता है। 'कामायनी' का पूरा लज्जा सर्ग इसका उदाहरण है। रूप भले ही मलिन हो, मानसिक दशा के कारण रूप की कृशता क्यों न हो, चेतना की सौंदर्य ज्योति कभी मंद नहीं होती। कहानियों के समाज बहिष्कृत निम्नवर्गीय नायिकाओं के रूप वर्णन और काव्यों के विरह वर्णन में इसका आभास मिल जाता है।

बाह्य और आन्तरिक रूप की संगति में ही सौंदर्य की पूर्णता है। इसीलिए कवि कामायनी के सम्बन्ध में कहते हैं कि "हृदय की अनुकृति बाह्य उदार एक लंबी काया उन्मुक्त।"[22]

प्रसाद-साहित्य में रूप वर्णन की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो सौंदर्य की प्रकृति एवं स्वरूप की निर्धारक हैं। कवि के अनुसार रूप की नैसर्गिकता में ही सच्चा सौंदर्य है। प्रकृति का रूप नैसर्गिक होता ही है, मानवीय रूप को भी उसके साथ तुलना करते हुए प्राकृतिक बनाने का प्रयत्न किया गया है। कामायनी वह कुसुम है जो कानन अंचल में मंद पवन प्रेरित होकर सहज डोल रहा है।[23] रूप की स्वच्छन्दता, नैसर्गिकता से संबद्ध विशेषता है। नियमों के बन्धन, चाहे वे जीवन सम्बन्धी हों चाहे काव्य शास्त्रीय, रूप सौंदर्य के उन्मीलन में बाधक सिद्ध होते हैं। नियमों से उत्पन्न रूप की सीमाएं सौंदर्य को परिमित कर देती हैं। बन्धनों से मुक्त प्रकृति के स्वच्छन्द रूप में सौंदर्य आवरण मुक्त होकर खिल उठता है। प्रलय के बाद आवरण मुक्त प्रकृति पहले की तरह हरी-भरी हो गई।[24] 'रमला' कहानी में रमला झील का वर्णन नैसर्गिक और स्वच्छन्द सौंदर्य का सजीव उदाहरण है। स्कन्दगुप्त की देवसेना, कामायनी की श्रद्धा, 'हिमालय का पथिक' की किन्नरी आदि पात्र प्रकृति की बालिकाएं हैं। कहानियों के वनजीवी पात्रों की प्रकृति और जीवन में सामाजिक मर्यादा से मुक्त स्वच्छन्दता का सहज सौंदर्य है। 'इन्द्रजाल' की बेला "चलती तो थिरकती हुई, बातें करती तो हँसती हुई। एक मिठास उसके चारों ओर बिखरी रहती।"[25] सालवती, तितली, कालिन्दी आदि नागरिक पात्रों में भी कवि ने रूप की प्राकृतिक स्वच्छन्दता का ध्यान रखा है।

स्वच्छन्दतावादी कवि ने सामाजिक मर्यादा से आबद्ध कुल-वधू के सौंदर्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया। तितली और चूडीवाली इसके अपवाद हैं, फिर भी प्रसाद कुल-वधू की लज्जा से उत्पन्न सौंदर्य की गंभीरता, उदात्तता और गरिमा से अनभिज्ञ

नहीं हैं। लज्जा शालीनता, गौरव और महिमा सिखलाती है।[26] सौभाग्यवती के सौभाग्य में प्रेम से दीप्त सौंदर्य की शोभा है। इसीलिए सौंदर्य में 'भोला सुहाग इठलाता' है।[27] नारी सुलभ लज्जा की गरिमा और सौभाग्य की दीप्ति को ग्रहण करते हुए भी प्रसाद ने स्वच्छन्द रूप और व्यवहार को ही आदर्श माना है। उनके साहित्य में मर्यादा के संकोच का कहीं निरूपण नहीं हुआ है।

प्रकृति और मानवीय रूप के संस्कार में सौंदर्य कृत्रिम हो जाता है। संस्कार से उत्पन्न व्यवस्था में रूप अधिक निखरा हुआ अवश्य प्रतीत होता है, लेकिन साज-सज्जा की कृत्रिमता छिप नहीं सकती। उपवन और नागरिक रूप के सौंदर्य की यही प्रकृति है। प्रसाद ने नागरिक अलंकृत रूप का वर्णन अवश्य किया है, पर प्राकृतिक अलंकरणों के माध्यम से कृत्रिमता से बचने का भी प्रयत्न किया है। अलंकृत रूप के सौंदर्य के अतिशयता की ओर संकेत करते हुए कवि कहते हैं कि "नूपुरों की झनकार घुली मिली जाती थी चरण-आलक्तक की लाली से।"[28] अधिक शृंगार की कृत्रिमता को लक्ष्य करके कवि का कहना है कि "उतना ही स्त्री-जन-सुलभ सहज शृंगार पर्याप्त है जो स्वतत्रता में बाधा न डालता हो ‥कठपुतली की तरह सजना व्यर्थ ही नहीं किन्तु पाप भी है।"[29]

नागरिकता की तरह वैभव-विलास में भी सौन्दर्य कृत्रिम हो जाता है। सौन्दर्य की अतिशयता "कुसुम वैभव में लता समान"[30] प्राकृतिक वैभव पर निर्भर है। प्रसाद की ऐतिहासिक रचनाओ में प्राकृतिक और सांस्कृतिक वैभव-विलास की अनेक झांकियाँ प्रस्तुत की गई हैं। परिस्थिति के अनुसार कुछ अवसरों पर उसके स्वस्थ स्वरूप का प्रतिपादन भी किया गया है। लेकिन वासना को उत्तेजित करने वाला वैभव-विलास 'स्वर्ग के खण्डहर में' परिणत हो जाता है। ऐन्द्रिय रूप सौन्दर्य और वासना का निराकरण करते हुए शुद्ध सौन्दर्यानुभूति पर बल देने के लिए कवि ने रूप की सात्त्विकता का आग्रह किया है··· 'उस पावन तन की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।'[31] तभी सौंदर्य में 'मध्याह्न निखरता' है।[32]

सौंदर्य, रूप की नैसर्गिकता और स्वच्छन्दता पर आधारित होने पर भी उसकी अनुभूति में रहस्यमयता और असाधारणता होती है और होनी भी चाहिये। नायिका शशि मुख पर घूंघट डालकर कुतूहल जगाती है।[33] छायानट छवि परदे में सम्मोहन वेणु बजाता है।[34] 'सौंदर्यमयी चंचल कृतियां बनकर रहस्य हैं नाच रही।'[35] इस रहस्यमयता के कारण रूप आंखों का अवगुण्ठन होता है[36] और सौंदर्य असाधारण सा प्रतीत होता है। प्रसाद ने असामान्य वस्तु या रूप में भी सौंदर्य देखा है जैसे 'गुंडा' और 'छोटा जादूगर' के रूप और व्यक्तित्व में। लेकिन यह असामान्यता मानसिक विकृति की नहीं है। इसलिए यह सौंदर्याभिरुचि कुरुचि का उदाहरण नहीं है।

आलंबन के आधार पर प्रसाद के सौंदर्य वर्णन को प्राकृतिक, मानवीय, और मानव निर्मित वस्तुगत तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। कवि ने प्रकृति

के अनेकानेक दृश्यों और विविध वस्तुओं दोनों के सौंदर्य का सूक्ष्म उद्घाटन किया है। प्रकृति का सौंदर्य नैसर्गिक, रहस्यमय और स्पन्दनशील है। भावना-प्रवण कवि होने के कारण प्रसाद ने प्रकृति का मानवीकरण करते हुए उसके भावतरल और क्रियाशील रूप सौन्दर्य को अधिक अंकित किया है, जो अत्यन्त ऐन्द्रिय और मादक है—"विकल खिलखिलाती है क्यों तू ? इतनी हंसी न व्यर्थ बिखेर।"[37] मानवीय रूप वर्णन में पुरुष का सौंदर्य शारीरिक गठन की दृढ़ता और व्यक्तित्व की ओजस्विता पर निर्भर है—'अवयव की दृढ़ मांस पेशियां ऊर्ज्जस्वित था वीर्य अपार।'[38] नारी के मन की कोमलता उसके रूप की संरचना में भी झलक उठी है··· 'सब अंग मोम से बनते हैं, कोमलता में बल खाती हूं।'[39] लेकिन उसमें व्यक्तित्व और चरित्र की दृढता भी है जिसके कारण उसके सौंदर्य में चांद की शीतलता नहीं, सूर्य की दीप्ति है।[40] कल्पनाशील कवि होने के कारण प्रसाद ने मानव निर्मित उपभोगी वस्तुओं का विस्तार से वर्णन नहीं किया है। उनके द्वारा वर्णित वस्तुजगत दो प्रकार का है—प्राकृतिक उपादानों से निर्मित जैसे 'प्रेम पथिक' का पर्णकुटीर या 'कामायनी' के शिशु के लिये रचित लतागुल्म और राजसौध आदि आवास स्थान। ललित कलाकृतियों का वर्णन, प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों रूपों में अनेक स्थानों पर मिलता है। उससे स्पष्ट पता चलता है कि प्रसाद कला सौंदर्य के पारखी हैं। ललित कलाओं में उन्होंने अंगांग सौष्ठव, रंग-रेखा, स्वर-विधान, शब्द-योजना आदि बाह्य सौंदर्य के उपादानों को महत्व न देकर रसवादी भारतीय आलंकारिक दृष्टि के अनुरूप आत्म सौंदर्य पर बल दिया है। इसलिए प्रतिमा में सजीवता[41] और चित्र में जीवन के ज्योतिमयी रूप[42] को प्रभविष्णु माना गया है। सौंदर्य की रहस्यमयता और उसकी अनुभूति में 'दूरी' की आवश्यकता से भी वे अनभिज्ञ नहीं हैं।[43]

प्रसाद-साहित्य में उदात्त सौंदर्य के वर्णन बहुत कम मिलते हैं। प्रकृति के विराट रहस्यमय रूप और हिमालयों की भव्यता के उदाहरण अपवाद स्वरूप ही है। वे कमनीय सौंदर्य के ही कवि हैं। 'उस कमनीयता कला की सुषुमा थी प्यारी-प्यारी।'[44]

प्रसाद की दृष्टि में सौंदर्यानुभूति की पहली अवस्था ऐन्द्रिय है। रूप के आकर्षण में इन्द्रियां परवश हो जाती हैं, सौंदर्य की रहस्यमयता आंखों को उलझा देती है। मनु सोचता है कि—

> कौशल यह कोमल कितना है ! सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या ?
> चेतना इन्द्रियों की मेरी, मेरी ही हार बनेगी क्या ?[45]

सौंदर्य की ऐन्द्रिय अनुभूति मनुष्य को सदा अतृप्त ही रखती है— 'प्यासी मछली-सी आँखें थीं विकल रूप के जल में'।[46] सौंदर्यानुभूति की दूसरी अवस्था मानसिक है जब मन कोमल रूप में स्पन्दित होता है। जब प्रियतम का अनन्त सौंदर्य मन के निस्सीम गगन में समा जाता है,[47] रस की बूंदें बरस जाती हैं।[48] सौंदर्य के द्वारा भावात्मक स्पंदनशीलता और उसकी रसमय परिणति निष्काम दृष्टि

से ही संभव हैं। वासना सर्ग में प्रकृति की रमणीयता को देखकर मनु की वासना उत्तेजित हो जाती है, जब कि कामायनी उसका शान्त, निश्चल आस्वादन करती है। सौंदर्यानुभूति की ऐन्द्रियता, मानसिकता, या आध्यात्मिकता व्यक्ति के मानसिक धरातल पर निर्भर है। जब मनुष्य का मन लौकिक द्वन्द्वों से परे हो जाता है तब समरसता की अनुभूति होने लगती है और सौंदर्य एवं कुरूपता का लौकिक द्वन्द्व समाप्त होकर सृष्टि के कण-कण में केवल सौंदर्य का आभास मिलता है। यही सौंदर्यानुभूति की चरम आध्यात्मिक अवस्था है। उस स्थिति मे भीषणतर कमनीय बन जाता है।[49] जड और चेतन समरस हो जाते हैं और सौंदर्य साकार बनता है।[50] कामायनी और देवसेना में सौंदर्यानुभूति की चरम सीमा को देखते हैं, जहां पर मन केवल साधना से पहुंच पाते हैं। देवसेना कहती है कि– 'प्रत्येक परमाणु के मिलने में एक सम है, प्रत्येक हरी भरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रखा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व वीणा में शीघ्र नहीं मिलता।'[51] इस सौंदर्यानुभूति में कठोर हृदय भी द्रवीभूत होकर कोमल बन जाता है। चम्पा को देखकर बुद्ध गुप्त के मन में कोमलता की एक नयी अनुभूति होने लगी।[52] कवि उस सौंदर्य सुधा पर बलिहारी हो जाते हैं जिससे चकोर अंगारे चुगता है।[53] सौंदर्य का प्रभाव जड में भी स्फूर्ति उत्पन्न करता है।[54] सुख-दुख मिलकर मन मे समरस आनंद उत्सव मनाते हैं।[55]

युग की नवीन आध्यात्मिक सांस्कृतिक आकांक्षाओं, कवि की अन्तर्मुखी भावनाशील प्रवृत्ति और प्रकृति दर्शन से प्रसाद के सौंदर्य बोध का विकास हुआ। इसलिए वह सुसंस्कृत, भावतरल और नैसर्गिक है। सीमित परिधि में व्यतीत जीवन और एकान्तप्रियता के कारण व्यापक प्रकृति के साथ उनका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं हो सका। उनका सौंदर्य-बोध प्रायः रोमांटिक कल्पना पर आधारित होकर विकसित होता गया। इसीलिए उनके सौंदर्य वर्णन रमणीय वातावरण में सूक्ष्म रहस्यमय आवरण से युक्त होकर मादक लगते हैं। कवि के कल्पनाशील प्रौढ सौंदर्य-बोध ने समस्त जगत को रसमय बना दिया है– प्रलय, मृत्यु और रात की भावना भी संवेद्य सौंदर्य रूप धारण करती हैं—

> नीलिमा शयन पर बैठी अपने नभ के आंगन में
> विस्मृति का नील नलिन रस बरसो अपांग के घन से।[56]

इस छन्द में संश्लिष्ट और सावयव चित्र योजना विशेष दृष्टव्य है। गतिशील बिंबों, सार्थक प्रतीकों और प्रभावपूर्ण नवीन अप्रस्तुतों के द्वारा कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को सजीव बनाया है। प्रकृति और भावनाओं के मानवीकरण में सौंदर्य की अनुभूतिमूलक तरलता और गतिशीलता व्यंजित हुई है। सार्थक विशेषणों, विशेष्यों और क्रियाओं के प्रयोग से सौंदर्य मूर्त हो उठता है तो लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा उनकी अन्विति में सौंदर्य की अतिशयता द्योतित हो जाती है—

मृत्यशीला शैशव की स्फूर्तियां
दौड़कर दूर जा खड़ी हंसने लगीं ।[57]

समष्टि रूप में प्रसाद की रचनाओं में एक आन्तरिक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध सूत्र दिखाई देता है, जिससे रूप-विधान सूक्ष्म भावात्मक तंतुओं से संगठित लगता है ।

प्रसाद ने सौंदर्य की समस्त बाह्य और आन्तरिक विशेषताओं के साथ उसकी परिभाषा प्रस्तुत की । अन्त में उनका कहना है कि सौंदर्य चेतना का उज्ज्वल वरदान है जिसमें अभिलाषा के अनन्त सपने जगते रहते हैं ।[58] रूप में प्रवाहित विद्यु त की प्राणमयी धारा उसका जीवतत्व है[59] तो नेत्रों के लिए आनन्ददायक रमणीय रूप उसकी अभिव्यक्ति है ।[60] उससे मन का रसमय और शीतल होना अनुभूति का पहलू है ।[61] प्रसाद की यह आध्यात्मिक सौंदर्य भावना व्यक्तिनिष्ठ और नैसर्गिक ही नहीं कल्पना से रंगीन भी है । मन की भावना, प्रकृति और कल्पना तीनों उसके उद्गम स्रोत और उसकी प्रकृति एवं स्वरूप के निर्धारक हैं ।

मनुष्य की सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ उपयोगितावादी दृष्टि से परे उसकी सौंदर्य भावना का विकास भी होता जाता है—

जीवन का कोमल तन्तु बढे तेरी ही मंजुलता समान,
चिर नग्न प्राण उनमें लिपटें सुन्दरता का कुछ बढे मान ।[62]

प्रसाद के सौंदर्य वर्णन के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी भावना और कल्पना के द्वारा सौंदर्य को रंगीन और रोमांटिक बना दिया है । कामायनी "रंगों ने जिन से खेला हो ऐसे वह फूलों की डाली" है ।[63] उसमें चेतना की जितनी उज्ज्वलता है, उतना ही ऐन्द्रिय माधुर्य भरा हुआ है । वे रूप के पूर्ण विकास में सौंदर्य की परिपूर्णता मानते हैं । इस तरह सौंदर्य की आदर्श स्थिति आत्मगत और रूपगत परिपूर्णता में है । कवि जहाँ कहते हैं कि "माना कि रूप-सीमा है सुन्दर तव चिर यौवन में'[64], तो दूसरी ओर "चिति का बिराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुन्दर "[65] मानते हैं ।

प्रसाद ने सौंदर्य के सृष्टि-व्यापी प्रभाव की ओर भी मार्मिक सकेत किये हैं । सौंदर्य या सच्चा सौंदर्य अपने प्रभाव से जड़ को चेतन या असुंदर को सुन्दर बना देता है । इसीलिए समस्त सृष्टि फूलों की पंखुडियां बिखराकर उसका अभिनन्दन करती है ।[66]

कवि ने नारी रूप को ही सौंदर्य का प्रतिमान माना है । प्रकृति में मानवीय रूप की सजीवता और मानवीय रूप में प्रकृति की नैसर्गिकता को दिखाते हुए भी अपनी सौंदर्य की परिभाषा के अनुरूप सजीवता को ही महत्व दिया है । नारी रूप में

इस सजीवता के साथ कमनीयता भी भरी हुई है। इस नारी सौंदर्य से ही प्रकृति मानो सुन्दर हो उठी है और उस पर मुग्ध हो जाती है—

पश्चिम जलधि में,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानों चूमने को मुझको
और सांस लेता था समीर मुझे छूकर।[67]

प्रसाद–साहित्य में सौंदर्य सम्बन्धी समस्याओं पर भी विचार किया गया है जिनमें से कुछ सौंदर्य-शास्त्रीय हैं और कुछ समाज-शास्त्रीय। "जीवन का लक्ष्य सौंदर्य है।"[68] यह भारतीय आनन्दवादी दृष्टि का प्रतिपादक सिद्धान्त है। सौंदर्य की अनुभूति प्रवृत्ति मूलक जीवन-दर्शन पर आधारित है। पर उसका आध्यात्मिक दृष्टि से कोई विरोध नहीं है। क्योंकि उसकी परिणति सात्विक आनन्द में है, लेकिन यह सौंदर्य रूपगत न होकर रूप की चेतना से सम्बद्ध है। इसीलिए 'कला' कहानी में रूप की अपेक्षा रस के महत्व का प्रतीकात्मक प्रतिपादन किया गया है जो कला और कलागत सौंदर्य की व्याख्या करता है। रूप सौंदर्य का गर्व मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है। सालवती और 'प्रलय की छाया' की कमला इसके उदाहरण हैं। आरम्भ में ही कवि ने कमला की मनःस्थिति की ओर इस तरह संकेत किया है—

पागल हुई मैं अपनी ही मृदु गन्ध से—
कस्तूरी मृग जैसी।[69]

रूप गर्व के साथ भोग दृष्टि के योग से जीवन की स्वस्थता नष्ट हो जाती है। सौंदर्य भोग की वस्तु नहीं, भावना का विषय है। भोग–लालसा की अतिवादिता के कारण प्रलय में देव संस्कृति का नाश हो गया। 'स्वर्ग के खण्डहर' में मुसलमानी संस्कृति की भी यही कहानी प्रस्तुत की गयी है। कवि कहते हैं कि—

नारी यह रूप तेरा जीवित अभिशाप है
जिसमें पवित्रता की छाया भी पड़ी नहीं।[70]

ऐसे सौंदर्य की प्रलय-कारिणी छाया में सृष्टि असफल हो जाती है —

पुण्य ज्योति हीन कलुषित सौंदर्य का—
गिरता नक्षत्र नीचे कालिमा की धारा-सा
असफल सृष्टि होती
प्रलय की छाया में।[71]

वासना को उत्तेजित करके मन की शान्त निश्चलता को समाप्त करनेवाला सौंदर्य सच्चा सौंदर्य नहीं है, जिसका 'रूप की छाया' में तिरस्कार किया गया है। प्रसाद की दृष्टि में सौंदर्य के ऐन्द्रिय होने पर भी उसका पावन और मंगलमय काम

प्रकट होना आ[illegible] के उच्चतम शिखर तक पहुंच पाता है।

प्रसाद-साहित्य में सौंदर्य का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक जो समग्र एवं तात्विक निरूपण हुआ है, वह अन्य छायावादी कवियों की रचना में उस प्रचुर मात्रा में दिखाई नहीं देता। लज्जा सर्ग में सौंदर्य की जो विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की गयी है, प्रसाद साहित्य मानो उसकी रंगीन रूप कल्पना है।

संदर्भ संकेत

1. कामायनी, श्रद्धा, पृ० 42 सं० 2000 वि०
2. का० ल० पृ० 82
3. का० श्र० पृष्ठ 42
4. इन्द्रजाल, पृष्ठ 2 सं० 2018 बि०
5. आंसू, पृष्ठ 24 सं० 2023 वि०
6. का० श्र० पृष्ठ 44
7. वहां, पृष्ठ 44
8. आकाशदीप, देवदासी, पृष्ठ 96, सं० 2002 वि०
9. प्रतिध्वनि, पाप की पराजय, पृष्ठ 31 सं० 2016 वि०
10. आन्धी, आन्धी, पृष्ठ 3 सं० 2001
11. का० का० पृष्ठ 58
12. का० ल० पृष्ठ 83
13. का० श्र० पृष्ठ 48
14. का० स्व० पृष्ठ 151
15. का० इ० पृष्ठ 141
16. का० का० पृष्ठ 55
17. का० श्र० पृष्ठ 43
18. आंसू, पृष्ठ 23
19. इरावती, पृष्ठ 52 सं० 2018 वि०
20. का० का० पृष्ठ 91
21. आ० नीरा, पृष्ठ 84
22. का० श्र० पृष्ठ 42
23. का० श्र० पृष्ठ 44
24. का० आ० पृष्ठ 30
25. इन्द्रजाल, पृष्ठ 2
26. का० ल० पृ० 83-84
27. वही, पृ० 82
28. लहर, प्रलय का छाया, पृष्ठ 60 सं० 2001 बि०
29. जनमेजय का नागयज्ञ, पृष्ठ 82-83 सं 2017 वि०
30. का० श्र० पृष्ठ 42
31. आंसू, पृष्ठ 24
32. का० ल० पृष्ठ 82
33. आंसू, पृष्ठ 19
34. वही, पृष्ठ 33
35. का० का० पृष्ठ 57
36. वही, पृष्ठ 55
37. का० आ० पृष्ठ 39
38. का० चि० पृष्ठ 10
39. का० ल० पृष्ठ 79
40. का० श्र० पृ० 43
41. आंसू, पृष्ठ 20
42. का० का० पृ० 55
43. का० का० पृष्ठ 58
44. आंसू, पृष्ठ 20
45. का० का० पृष्ठ 60
46. आंसू, पृष्ठ 10
47. वही, पृ० 20
48. वही, पृष्ठ 16
49. का० द०, पृष्ठ 203
50. का० आ० पृष्ठ 235

51. स्कन्दगुप्त, पृ० 49 सं० 2026 वि०
52. आ० आकाशदीप, पृ० 6
53. आंसू, पृष्ठ 43
54. का० श्र० पृष्ठ 43
55. का० ल० पृष्ठ 83
56. आंसू, पृष्ठ 55
57. ल० प्रलय की छाया, पृष्ठ 60
58. का० ल० पृ० 83
59. वही, पृ० 81
60. वही, पृष्ठ 82
61. वही, पृ० 82
62. का० ई० पृष्ठ 124
63. का० का० 66
64. आंसू, पृष्ठ 20
65. का० आ० पृष्ठ 230
66. का० ल० पृष्ठ 83
67. ल० प्रलय की छाया, पृष्ठ 59
68. एक घूंट, पृष्ठ 19, सं० 2015 वि०
69. ल० प्रलय की छाया, पृष्ठ 59
70. वही, पृष्ठ 79
71. वही, पृष्ठ 80

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय
तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)

चित्र का सौंदर्य सिद्धांत : एकता

शुकदेव श्रोत्रिय

चित्र सृजन में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है उनमें ऐक्य की भावना वह सूत्र है जिसमें चित्र के सभी सौन्दर्य तत्त्व गुंथे रहते हैं । प्रायः दर्शक आनन्दानुभूति की स्थिति में चित्र के सौन्दर्य से सीधा प्रभावित होता है किन्तु उस आनन्द के मूल आधार के विश्लेषण की न तो उसे आवश्यकता होती है और न ही वह उसके लिये प्रयासशील होता है ।

चित्र में रेखा, रूप, वर्ण आदि का एक चाक्षुष बल होता है । यह बल जब एक दिशा में गतिशील होता है तब चित्र में सहयोग की भावना होती है, एकता होती है । ऐसा तभी सभव है जब चित्र के सभी तत्व एक दूसरे को तथा स्वयं अपने को सहारा दें अथवा खींचे रहें । इसी चाक्षुष बल के सहारे चित्रकार नन्दतिक एकता (Aesthetic Unity) लाने का प्रयास करता है । किन्तु यह अनुभव प्रत्येक आँख के लिये संभव नहीं है । इसके लिये आंख की वह योग्यता आवश्यक है जिससे चाक्षुष बल तोला जा सके ।

एकता वह माध्यम है जिसमें चित्र के तत्त्व अपनी सीमाओं में स्वतंत्र रहते हुए भी किसी एक दिशा में खिचे रहते हैं । वह ऐसी शक्ति है जो बिखराव वाले प्रवाह को एक आकर्षण में बांधती है । जिस प्रकार रंगों के कणों को अलसी का तेल बाँधे रहता है उसी प्रकार एकता चित्र-तत्वों को एकसूत्रता प्रदान करती है ।

चित्र के चाक्षुष बल को एक दिशा प्रदान करने के लिये चित्र तत्वों से ऐसी प्रभाविता उत्पन्न की जाती है जिससे आंख प्रमुखता के उसी क्रम से आकर्षित हो सके ।

जब दो विरोधी भावनाएं मस्तिष्क में उलझ जाती हैं तब, जब तक उनमें से एक बलवती होकर क्रियाशील नहीं हो जाती, मस्तिष्क में उलझन बनी रहती है । नाटक अथवा उपन्यास में मुख्य केन्द्र एक पात्र होता है, अन्य पात्र तो उसके चारों ओर घूम कर घटना-क्रम को सहारा देकर आगे बढ़ाते हैं । इसी प्रकार चित्र में किसी रूप अथवा वर्ण की प्रमुखता से अन्य तत्व उसे सहयोग देते हैं ।

बराबर चाक्षुष बल की दो आकृतियों को एक फ्रेम में बांधना ठीक उसी प्रकार है जैसे दो गायों को एक साथ बांध दिया जाय जिससे वह भाग न सकें । वह

दोनों एक दूसरे से अकारण टकराती रहेंगी। वह एक दिशा में तभी चल सकेंगी जब उनमें से कोई एक इतनी बलवान हो जो दूसरी को खींच कर ले जा सके। उस चित्र में भी यही स्थिति होगी जहां समान बल एक दूसरे से टकरा कर तनाव अथवा बिखराव की स्थिति बना देते हैं। अत: किसी चित्र की योजना बनाते समय, एक दिशा, एक रूप, एक वर्ण को प्रमुख रखना आवश्यक है और प्रमुखता का क्रम जितना धीमा और लयात्मक होगा, चित्र में उतना ही आनन्द प्राप्त होगा। एक अप्रमुख आकृति से आँख यदि प्रमुख आकृति की ओर एक-एक सीढ़ी नहीं बढ़ती तो चित्र मे कुछ कठोरता का आभास होता है।

जहाँ चित्र में रेखा रेखा से, वर्ण वर्ण से, रूप रूप से सामंजस्य दिखाते हैं वहाँ बहुधा एकता का भ्रम होता है किन्तु वास्तव में वहां एकता नहीं, समरसता है। इसी समरसता और विरोधाभास का सन्तुलन एकता है। यदि एक कमरे को आधा नीला तथा आधा हरा पेन्ट कर दिया जाय तब वर्ण सामंजस्य तो होगा किन्तु एकता नहीं होगी क्योंकि यहां वर्ण का क्षेत्र समान है अत: तनाव आ जाता है। एकता के लिये कमरे की किसी एक रंगत का क्षेत्र बड़ा होना चाहिये और यदि क्षेत्र समान ही रखना है तब वर्ण की तान अथवा तीव्रता में परिवर्तन करके प्रभाविता लाना आवश्यक है।

किसी जंगल के चित्र में पेड़ों के तनों की लम्ब रेखाएं एक दिशा में सामंजस्य करती हैं किन्तु आधारहीन दिखाई देती हैं। उनके साथ उनकी छायाओं की क्षैतिज रेखाओं को बनाने से, पर्वतीय ढालों को दिखाने से, लम्ब रेखाओं का सौन्दर्य एकदम बढ़ जाता है। इसके लिये भी यह ध्यान रखना पड़ेगा कि यदि पेड़ों के तनों को प्रमुखता देनी है तब छायाओं की रेखाएं अनुपात में कम रहें और यदि जंगल में गहरी छायाओं को प्रधानता देनी है तब लम्ब रेखाओं को अनुपात मे कम चित्रित किया जाय।

वास्तव में किसी तत्व के प्रमुख होते ही एक ऐसे आकर्षण बल का उदय होता है जिसे विरोधाभास कहते हैं क्योंकि इसमें आँख सामान्य से प्रधान की ओर गति का अनुभव करती है। यही गति एक क्रम से उतार चढ़ाव से सौन्दर्यानुभूति देती है। यह एक नाटकीय स्थिति होती है जहाँ आकृति, विरोधी बलों को और सहयोगी बलों को सन्तुलित कर एकता की सृष्टि करती है।

—चित्रकला विभाग
सनातनधर्म कालेज
मुजफ्फरनगर।

हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन : सामान्य सर्वेक्षण

डा० सुरेश चन्द्र त्यागी

हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन के सूत्र सर्वप्रथम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की "चिन्तामणि' में मिलते हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन की साहित्य-परिषद् के अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की समीक्षा की थी।[1] उन्होंने कहा था कि, "सौन्दर्यशास्त्र में जिस प्रकार चित्रकला, मूर्तिकला आदि शिल्पों का विचार होने लगा, उसी प्रकार काव्य का भी। सबसे बेढंगी बात तो यही हुई। अतः इस वाद (अभिव्यंजनावाद) का प्रतिषेध करने से पहले मैं यही कह देना चाहता हूँ कि 'सौन्दर्यशास्त्र', जिसके भीतर इसका निरूपण हुआ है, काव्य-संबंधी मीमांसा का ठीक स्थान ही नहीं। पहले तो 'सौन्दर्यशास्त्र' अभी कोई ठीक-ठिकाने का शास्त्र नहीं—कभी होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। यदि हो भी तो काव्य से उसका सम्बन्ध नहीं।"[2] मेरा अनुमान है कि 'एस्थेटिक्स' के लिए हिन्दी शब्द 'सौन्दर्यशास्त्र' का प्रयोग भी सर्वप्रथम शुक्ल जी ने ही किया होगा। सौन्दर्य के स्वरूप, उसकी वस्तुगत और व्यक्तिगत सत्ता, बिम्ब और प्रतीक, अनुभूति और कल्पना, काव्य-भाषा आदि के बारे में शुक्ल जी का चिन्तन यत्र-तत्र बिखरे रूप में मिलता है। उसका एकत्र संकलन और विवेचन हो तो वही हिन्दी में हुए सौन्दर्य-शास्त्रीय चिन्तन का प्रस्थान-बिन्दु सिद्ध होगा। वह अलग निबन्ध का विषय है। यहाँ तो यही कहना पर्याप्त है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ही हिन्दी में सौन्दर्य-शास्त्र-विषयक चिन्तन-परम्परा की नींव रखी।

मेरी जानकारी में, सौन्दर्यशास्त्र पर हिन्दी में सर्वप्रथम पुस्तक हरद्वारीलाल शर्मा की 'सौन्दर्यशास्त्र' है।[3] लेखक के अनुसार, "सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्य की शास्त्रीय विवेचना है।"[4] शास्त्र और विज्ञान का अर्थ-भेद समझाते हुए उन्होंने 'सौन्दर्यशास्त्र'

1. यह भाषण 'चिन्तामणि' (दूसरा भाग) में 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक से संकलित है।
2. चिन्तामणि (दूसरा भाग), पृष्ठ 178
3. प्रकाशक—साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1953, पृष्ठ संख्या 240, मूल्य तीन रुपये।
4. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 10

और 'सौन्दर्य-विज्ञान' में अन्तर किया है, "सुन्दर वस्तु केवल अपने आकार और रचना के कारण ही नहीं, वरन् इसलिए भी सुन्दर है कि इसका अनुभव आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करता है। प्रत्येक रचना के सौन्दर्य की अन्तिम परीक्षा हमारी अनुभूति के द्वारा ही होती है। सौन्दर्य के इस आध्यात्मिक स्वरूप की परीक्षा 'सौन्दर्यशास्त्र' और इसके प्राकृतिक स्वभाव की गवेषणा (सौन्दर्य-विज्ञान) का काम है।"[5] यही नहीं, सौन्दर्य-दर्शन' शब्द का व्यवहार करके इसमें सौन्दर्य के दार्शनिक स्वरूप का स्पष्टीकरण और एतद्विषयक दार्शनिक समस्याओं के समाधान का दृष्टिकोण, स्वीकार किया गया है। लेखक ने स्वयं यह माना है कि उसके ग्रन्थ में "शास्त्रीय दृष्टिकोण की प्रधानता है परन्तु हमने वैज्ञानिक विचार-शैली को भी उचित स्थान दिया है।"[6] और "सौन्दर्य-दर्शन हमारी शास्त्रीय विवेचना की मूल भित्ति की भाँति हमारे सम्पूर्ण ग्रन्थ में विद्यमान है। [7] सौन्दर्यशास्त्र और कलाशास्त्र की भिन्नता भी लेखक ने स्वीकार की है, 'कला सम्बन्धी अनेक प्रश्न हैं जिनका उत्तर सौन्दर्यशास्त्र देता है। वैसे तो कलाशास्त्र भिन्न ही होता है।"[8]

हरद्वारीलाल शर्मा ने सौन्दर्यशास्त्र को परिभाषा इस प्रकार निश्चित की है, "सौन्दर्यशास्त्र (एक विशेष दृष्टिकोण से जिसे 'शास्त्रीय' कहा जा सकता है) मानवीय चेतना के उस अंश का विधिवत् अध्ययन करता है, उसके विश्लेषण, विकास, सृजन, आस्वादन सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करता है, जिस अंश को हम आनन्द (रस) आह्लाद की अनुभूति कहते हैं और जो वस्तु के सौन्दर्य से उत्पन्न होता है।"[9] यह आनन्द, रस अथवा आह्लाद की अनुभूति क्या है? लेखक के शब्दों में, "हमारी यह अनुभूति किसी वस्तु की अनुभूति से उत्पन्न आनन्द का नाम है। अपनी अनुभूति—प्रत्यक्ष, स्मृति, कल्पना आदि द्वारा आनन्द को उत्पन्न करने वाले वस्तु के गुण को 'सौन्दर्य' और उस वस्तु को 'सुन्दर' कहते हैं।"[10]

सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता का प्रश्न भी लेखक ने उठाया है। इस शास्त्र से सौन्दर्य-चेतना का विकास तो होता ही है, साथ ही "लोक-रुचि को परिष्कृत और विकसित बनाने के लिए इस शास्त्र का अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है क्योंकि सौन्दर्याशास्त्र ही हमें यह बताता है कि यद्यपि प्रत्येक वस्तुतः सुन्दर वस्तु आकर्षक, प्रिय और मनोमोहक होती है तथापि प्रत्येक आकर्षक, प्रिय और मनोमोहक वस्तु सुन्दर नहीं होती।"[11]

---

5. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 10
6. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 11
7. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 11
8. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 13
9. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 13
10. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 10
11. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 14

आदिम युग से लेकर आज तक की सौन्दर्य-चेतना के विकास की कहानी हरद्वारीलाल शर्मा ने मौलिक ढंग से प्रस्तुत की है। साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, वस्तु कलाओं में सौन्दर्य के स्वरूप का विश्लेषण भी सुबोध और सुचारु रूप में है। सौन्दर्य के वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ रूप की एकांगिता स्वीकार करते हुए हरद्वारी लाल शर्मा ने इन्हें पार्थिव और आध्यात्मिक रूप कहा है और अपना दृष्टिकोण व्यक्त करते हुए लिखा है कि "सौन्दर्यानुभूति में पार्थिव रूप और अध्यात्म रूप का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि एक यदि चेतन आत्मा है तो दूसरा उसका रूपवान, व्यक्त शरीर है; एक यदि पुष्प है तो दूसरा उसका आह्लादमय सौरभ है; एक यदि स्रोत है तो दूसरा उसका वेग है; एक यदि अग्नि है तो दूसरा उसकी दाहकता है। सुन्दर वस्तु मूर्तिमती अनुभूति है और अनुभूति स्वयं वस्तु के सौन्दर्य से स्वरूप पाती है।[12] और "जिस प्रकार 'अर्थ' वस्तुतः समझने की क्रिया का नाम है, केवल अर्थ के पार्थिव शरीरअर्थात् शब्द का नाम नहीं है, इसी प्रकार सौन्दर्य वस्तु का ही गुण नहीं है किन्तु रसिक की आत्मा में जाग्रत आस्वादन क्रिया का नाम है।"[13]

सौन्दर्य के तत्त्वों का विश्लेषण हरद्वारीलाल शर्मा की विशिष्ट चिन्तना का परिणाम है। ये तत्त्व तीन हैं—रूप, भोग और अभिव्यक्ति। वह पदार्थ जिससे सुन्दर वस्तु का कलेवर बनता है, भोग है। यह भोग तत्त्व सौन्दर्य का 'वास्तविक' आधार है। इसमें रंग का सर्वोपरि स्थान है। भोग्य पदार्थों के विन्यास से 'रूप' का आविर्भाव होता है। हरद्वारीलाल शर्मा के शब्दों में, "संकुचित दृष्टि से तो केवल चक्षु के, द्वारा ही रूप का निरूपण किया जाता है किन्तु व्यापक अर्थ में 'रूप' का अर्थ विन्यास संयोजन, संघठन, संगटना अथवा व्यवस्था किया जा सकता है जिससे 'अनेकों' में 'एकता' का बोध होता है।"[14] 'रूप' तीन रूपों में दिखाई देता है—ज्यामितिक, सजीव और प्रतीक।[15] अभिव्यक्ति-तत्त्व का महत्त्व तो ज्ञात ही है। कला वस्तुतः कुशल अभिव्यक्ति ही तो है। ओज, माधुर्य और प्रसाद– ये तीनों अभिव्यक्ति के गुण हैं। लेखक के शब्दों में, "अमूर्त्त अनुभूति को मूर्त्त करना अभिव्यक्ति है।"[16]

ये तीनों तत्त्व वस्तुनिष्ठ सौन्दर्य के विश्लेषण का परिणाम हैं लेकिन सौन्दर्य केवल वस्तुनिष्ठ ही तो नहीं है। हरद्वारीलाल शर्मा का निष्कर्ष है कि "सौन्दर्य के सम्पूर्ण अनुभव में सुन्दर वस्तु का पार्थिव रूप और इसका आनन्दमय आध्यात्मिक रूप इतने संश्लिष्ट रहते हैं कि इनके वियुक्त करने से ये दोनों ही विलीन हो जाते हैं।'[17]

---

12. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 80
13. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 82
14. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 68
15. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 69
16. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 77
17. सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 80

यद्यपि हरद्वारीलाल शर्मा की यह पुस्तक हिन्दी में इस विषय की सर्वप्रथम पुस्तक है फिर भी लेखक के मौलिक चिन्तन ने इसे महत्त्वपूर्ण बना दिया है। अनेक निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण और अस्पष्ट लग सकते हैं लेकिन चिन्तन की दिशाएं प्रदान करने की क्षमता इस पुस्तक में है। जिस प्रकार आलोचना के क्षेत्र में 'साहित्यालोचन' का महत्त्व है, उसी प्रकार सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन की परम्परा में यह 'सौन्दर्यशास्त्र' उल्लेखनीय स्थान रखता है। आगे चलकर हरद्वारीलाल शर्मा ने सौन्दर्य की बहुत गम्भीर और विस्तृत व्याख्या अपने "सुन्दरम्"[18] शीर्षक ग्रन्थ में प्रस्तुत की है।

फरवरी 1958 में आगरा से डा० रामविलास शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित 'समालोचक' मासिक का सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक बहुत ढंग से निकला था। इसमें सम्पादकीय के अतिरिक्त सौन्दर्य और सौन्दर्यशास्त्र के विविध पक्षों पर तीस लेखकों के तीस लेख हैं। रामविलास शर्मा ने काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के रहते सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता का कारण बतलाते हुए सम्पादकीय में यह स्पष्ट किया था कि "आवश्यकता यह है कि साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के परस्पर सम्बन्ध को हम समझें, उनकी समानताओं को हम पहचानें, ललित कलाओं की सामान्य भूमि पर साहित्य के सौन्दर्य का विवेचन करें, प्रकृति, मानव-जीवन, साहित्य तथा अन्य कलाओं के सौन्दर्य की विशेषताओं—उनकी विविधता और समानता का ज्ञान प्राप्त करें। इसलिए साहित्यशास्त्र से अधिक व्यापक यह सौन्दर्यशास्त्र आवश्यक है।"[19]

इसी विशेषांक में रामविलास शर्मा का महत्त्वपूर्ण निबन्ध "सौन्दर्य की वस्तुगत सत्ता और सामाजिक विकास"[20] भी है जिसमें प्रगतिवादी दृष्टिकोण से सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में आने वाले आवश्यक प्रश्न उठाकर उनका समाधान प्रस्तुत किया गया है। रामविलास शर्मा के अनुसार, "सौन्दर्यशास्त्र का उद्देश्य सौन्दर्य तथा उसकी अनुभूति की व्याख्या करना है। साधारणतः सौन्दर्यशास्त्र के विद्वान जिस सौन्दर्य का विवेचन करते हैं, वह साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं का सौन्दर्य होता है। प्रकृति और मानव जीवन के सौन्दर्य की व्याख्या किये बिना कलात्मक सौन्दर्य का विवेचन करना संभव नहीं है। इसलिए वस्तुतः सौन्दर्यशास्त्र

---

18. प्रकाशक—हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, प्रथम संस्करण फरवरी 1975, पृष्ठ संख्या 250, मूल्य आठ रुपये।
19. समालोचक, सौन्दर्यशास्त्र विशेषांक, पृष्ठ 3
20. यही निबन्ध डा० रामविलास शर्मा की 'आस्था और सौन्दर्य' (किताब महल, इलाहाबाद) पुस्तक में शामिल है।

का विषय उस व्यापक सौन्दर्य की व्याख्या है जो प्रकृति, मानव जीवन तथा कलाओं में विद्यमान है।"[21] इस निबन्ध में रामविलास शर्मा ने सौन्दर्य की परिभाषा, सौन्दर्य कहां है, इन्द्रियबोध और भाव, सामाजिक विकास के सन्दर्भ में सौन्दर्यबोध की परीक्षा, आर्थिक स्थिति और सौन्दर्यबोध का सम्बन्ध—जैसे प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर दिया है। उनके दृष्टिकोण की सीमा है लेकिन स्पष्टता के कारण उनका विवेचन विश्वसनीय लगता है।

'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका'[22] फतहसिंह की पुस्तक है जो यह स्पष्ट करने के लिए लिखी गई है कि, "भारत में सौन्दर्यशास्त्र जैसे किसी पृथक् शास्त्र का निर्माण न होने पर भी, 'सौन्दर्य-तत्त्व' की अच्छी मीमांसा हुई है।"[23] लेखक का विचार है कि इस तत्त्व की सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक चर्चा ऋग्वेद में हैं। पुस्तक की 'पूर्व-पीठिका' में लेखक ने स्पष्ट किया है कि, "ऋग्वेद में उत्कृष्ट सौन्दर्य मीमांसा की सामग्री विद्यमान है। इसी दृष्टि से 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मूलाधार' नामक ग्रन्थ लिखा गया है। इस ग्रन्थ का आकार बड़ा होने से इसके प्रकाशन की व्यवस्था में समय लगेगा। अतः प्रस्तुत पुस्तक (जो स्वयं में पूर्ण है) उसी ग्रन्थ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत की जा रही है। इसका आधार मुख्यतः ऋग्वेद है।"[24] उपर्युक्त ग्रन्थ तो अभी तक देखने को नहीं मिल सका, लेकिन यह 'भूमिका' भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

फतहसिंह के अनुसार, 'साधारणतया जिस वस्तु से मानव के मन में कोई सुखद अनुभूति होती है, उसको वह सुन्दर कहता है। ……इसी सुखद अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहा जाता है।"[25] इन्द्रियां इस अनुभूति का माध्यम हैं। माध्यम-भद से ही सौन्दर्य चक्षु-ग्राह्य, जिह्वा-ग्राह्य, नासिका-ग्राह्य और त्वचा-ग्राह्य होता है। काव्य में भी सौन्दर्य की अनुभूति होती है। फतहसिंह के शब्दों में, "काव्य जिन मानस प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय पाठक को सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है वे चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा द्वारा प्रदत्त रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श के मानस प्रत्यय अथवा चित्र ही तो होते हैं। अस्तु काव्य का सौन्दर्य मानस-ग्राह्य है।"[26]

---

21. आस्था और सौन्दर्य, पृष्ठ 19
22. प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण मई 1967, पृष्ठ संख्या 127, मूल्य सात रुपये पचास पैसे।
23. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, दो शब्द।
24. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पूर्वपीठिका, पृष्ठ क।
25. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 1
26. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 5

हम किसी वस्तु को सुन्दर क्यों कहते हैं, यह प्रश्न फतहसिंह ने अर्थ-विज्ञान से सम्बंधित माना है। सुन्दर की अनुभूति से एकाग्रचित्त होकर और कान बंद करके बैठें तो 'सुम्' ध्वनि सुनाई देगी। इसीलिए जो वस्तुएं हमें प्रिय होती हैं, उनके नाम के पहले हम 'सु' लगा देते हैं। जिस वस्तु के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष होने पर 'सुम्' नामक आनन्दानुभूनि होती थी, उसको सुन्दर कहा जाता था। "अत: अर्थ-विज्ञान के के आधार पर यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि संस्कृत-भाषा-भाषियों के पूर्वजों ने उन्हीं पदार्थों के लिए सुन्दर शब्द को प्रयुक्त करना आरम्भ किया होगा जिनके सम्पर्क से उनके हृदय में 'सुम्' नामक अनुभूति उत्पन्न हुई होगी।"[27] फतहसिंह ने अपने विवेचन और कल्पना से विषय को अति सरल बना दिया है। इस कल्पना की सत्यता भी संदिग्ध है।

सौन्दर्य शास्त्र के लक्ष्य के बारे में भी फतहसिंह ने विचार किया है। जो सौन्दर्यानुभूति प्रमाता या भावुक के मन में होती है, वह किसी न किसी बाह्य अथवा आन्तरिक विभाव के विभावन का परिणाम है। विभाव एवं प्रमाता के मूल तत्त्व तक पहुँचना ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध एवं साधना है और "इसी साधना के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करना ही सौन्दर्यशास्त्र का लक्ष्य है; मानव के इस अध्यवसाय में सहायता पहुँचाना ही इसका प्रमुख प्रयत्न है।"[28]

विभाव और प्रमाता की दृष्टि से सौन्दर्यशास्त्रियों ने सौन्दर्य तत्त्व पर विचार किया है। फतहसिंह ने सारे सौन्दर्यशास्त्रियों को दो वर्गों में बांट दिया है - भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। दोनों दृष्टिकोणों को एकांगी मानते हुए फतहसिंह ने यह स्थापित किया है कि "वैदिक साहित्य में इस एकांगीपन का सर्वथा परित्याग करके सौन्दर्य-मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है।"[29] इसी आधार पर वैदिक दृष्टि की व्याख्या फतहसिंह ने अपनी पुस्तक में की है। सौन्दर्यशास्त्र को पाश्चात्य शास्त्र मात्र मानने वाले लोगों को फतहसिंह के निष्कर्ष अतिवादी लग सकते हैं।

1967 में ही कुमार विमल की पुस्तक 'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व,[30] प्रकाशित हुई। इन्हीं की दूसरी पुस्तक 'कला-विवेचन'[31] सन् 1968 में छपी। पहली पुस्तक पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट् उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का प्रथम खंड है। दूसरी पुस्तक हिन्दी आलोचना में कला-विवेचन (आर्ट क्रिटिसिज्म) की प्रतिष्ठा

---

27. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 7
28. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 9
29. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 17
30. प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1967 पृष्ठ सं० 295; मूल्य साढ़े बारह रुपये
31. प्रकाशक—भारती भवन, पटना; प्र० सं० 1968; पृ० सं० 163; मूल्य साढ़े सात रुपये

का प्रयास है। कुमार विमल की ये दोनों पुस्तकें हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्र की चिन्तन-परम्परा में विशिष्ट स्थान रखती हैं।

'सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व' में सौन्दर्यशास्त्र की परिधि में आने वाले चार प्रमुख कला-तत्त्वों—सौन्दर्य, कल्पना, बिम्ब और प्रतीक—का व्यापक विवेचन है लेकिन 'पूर्व-पीठिका' में जिन दो प्रश्नों को उठाया गया है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। ये हैं—सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन का स्वरूप तथा ललित कलाओं का तात्त्विक अन्तः सम्बन्ध।

कुमार विमल की स्थापना है कि, "सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है, अन्य माध्यमों से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ नहीं। इस तरह सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के दार्शनिक विकल्पों और समस्याओं का सैद्धांतिक निरूपण है क्योंकि कला-जगत् की दार्शनिक समस्याएं प्रायः सौन्दर्य, आस्वाद, संवेग, पुनः प्रत्यक्ष इत्यादि से ही सम्बद्ध रहती हैं।"[32] वह सौन्दर्यशास्त्र और कलाशास्त्र को समानार्थी मानते हुए कारण स्पष्ट करते हैं कि, "सौन्दर्यशास्त्र को कलाशास्त्र कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इसका सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति के सम्पूर्ण क्षेत्र से नहीं, केवल ललित कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त सौन्दर्य के साथ है।"[33]

दूसरी उल्लेखनीय बात कुमार विमल ने सौन्दर्यशास्त्र और काव्यशास्त्र के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कही है। उनके शब्दों में, "सौन्दर्यशास्त्र काव्यशास्त्र का ही विकसित और कला-चैतन्य से समन्वित रूप है।"[34] और "काव्यशास्त्र केवल काव्य का शास्त्र है और उसके अध्ययन का क्षेत्र केवल काव्य तक सीमित है, जबकि सौन्दर्यशास्त्र सभी ललितकलाओं का शास्त्र है और उसकी सीमा काव्य के साथ काव्येतर कलाओं—स्थापत्य, मूर्ति, चित्र और संगीत तक फैली हुई है। इसलिए सौन्दर्यशास्त्र मात्र काव्यशास्त्र नहीं बल्कि कलाशास्त्र है।"[35]

तीसरी बात ललित कलाओं के तात्त्विक अन्तःसम्बन्ध के विषय में है। कुमार विमल ने लिखा है कि, "शैली, शिल्प, अभिव्यक्ति-भंगिमा और प्रेषणीयता के माध्यम की दृष्टि से ललित कलाओं में चाहे जितनी भिन्नता हो परन्तु तत्त्व-समास की दृष्टि से सभी ललित कलाओं में एक प्रच्छन्न अन्तःसम्बन्ध है।"[36]

अब तो सौन्दर्यशास्त्र की दृष्टि से काव्यालोचन की ओर शोधार्थियों की दृष्टि जाने लगी है लेकिन इसकी शुरूआत का श्रेय कुमार विमल को ही है। उन्होंने एक ऐसी महत्त्वपूर्ण बात कही है जिसकी ओर हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान अवश्य जाना

32. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ 20
33. कला विवेचन, पृष्ठ 127
34. कला विवेचन, पृष्ठ 147
35. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ 20
36. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व, पृष्ठ 64

चाहिए । उन्होंने लिखा है कि, "अब तक सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन में सूक्ष्म तात्त्विक सिद्धान्त-परिकल्पन के लिए जो आवेश रहा है, उसे नियंत्रित करना होगा और सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन को व्यावहारिक आलोचना के निकट लाकर हमें सौन्दर्यशास्त्र का एक स्वतंत्र व्यक्तित्व गढना होगा अन्यथा सौन्दर्यशास्त्र के स्वरूप को दर्शन, तत्त्ववाद और मनोविज्ञान ग्रस लेगा जिसका क्वाचित्क संकेत सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास अब तक देता है। मेरी दृष्टि से अब वह समय आ गया है जबकि सौन्दर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र के पार्थक्य को मिटा देना चाहिए ।"[37]

निर्मला जैन का ग्रन्थ 'रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र'[38], जिसे उन्होंने 'निबन्ध' कहा है, हिन्दी में तुलनात्मक सौन्दर्यशास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया है कि पाश्चात्य कला-चिन्तकों ने भी प्राच्य चिन्तन की व्याख्या करके सार्वभौम कला-सिद्धान्तों की आवश्यकता अनुभव की है अतः "ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि इस सहयोगी प्रयास में भारतीय दृष्टि से भी तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए। 'रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र' इसी आकांक्षा को मूर्त रूप देने का प्रयास है ।"[39] विषय का और स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने एक स्थापना यह की है कि, "सामान्यतः रस-सिद्धान्त भी भारतीय मनीषा द्वारा निर्मित और विकसित सौन्दर्यशास्त्र ही है जिसमें नाट्य के व्याज से काव्य, संगीत, नृत्य, चित्र, वस्तु आदि सभी कलाओं से सम्बन्धित आधारभूत तत्त्वों का निरूपण किया गया है किन्तु अन्ततः इसका चरम विकास मुख्य रूप से काव्य के ही सन्दर्भ में हुआ। दूसरी ओर पाश्चात्य चिन्तन के अन्तर्गत एक स्वतंत्र शास्त्र के रूप में सौन्दर्यशास्त्र का विकास होने के कारण, अपने वर्तमान अर्थ में वह पश्चिम के साथ ही अनुषंगतः सम्बद्ध हो गया है; इसलिए व्यवहार में सौन्दर्यशास्त्र का अर्थ पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्र ही लिया जाता है। इस दृष्टि से विवेचन की स्पष्टता के लिए 'सौन्दर्यशास्त्र' को पश्चिम तक ही सीमित रखना संगत प्रतीत होता है ।"[40]

रस-सिद्धान्त को लेखिका ने जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह प्रचलित रूप से भिन्न है। उसकी मान्यता यह है कि रस-सिद्धान्त एक समग्र सम्पूर्ण काव्य-सिद्धान्त है और उसमें केवल सहृदयनिष्ठ रसानुभूति का ही विवेचन नहीं है बल्कि काव्य की सृजन-प्रक्रिया, काव्यकृति के स्वरूप तथा काव्यास्वाद तक के सभी पक्षों का विवेचन है।

इस 'निबन्ध' में तीन खंड हैं जिनमें क्रमशः काव्यानुभूति, काव्यकृति और काव्य-सृजन की विवेचना की गई है। प्रारम्भ में भारतीय रस-चिन्तन और पाश्चात्य

---

37. कला विवेचन, पृष्ठ 138
38. प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; प्र० सं० मार्च 1967; पृष्ठ संख्या 475; मूल्य तीस रुपये ।
39. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, भूमिका, पृष्ठ क ।
40. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, भूमिका, पृष्ठ क-ख ।

सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास प्रस्तुत करके तुलनीय अवधारणाओं को रेखांकित किया गया है। भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सन्दर्भों में विकसित इन अवधारणाओं में अनेक आधारभूत प्रश्न एक से हैं। देश-काल की सीमाओं का आवरण हटाकर सामान्य धरातल की खोज होनी भी चाहिए। इस कार्य की उपादेयता असंदिग्ध है। निर्मला जैन की विवेचना-पद्धति उस अतिवादी दृष्टिकोण से मुक्त रही है जो भारतीय 'रस' या पाश्चात्य 'ब्यूटी' को श्रेष्ठ या निकृष्ट सिद्ध करने में ही सफलता मानता है। उनके शब्दों में, "न तो रस उतना सूक्ष्म है, जितना समझा जाता है और न 'ब्यूटी' ही उतनी स्थूल है, जितनी कही जाती है। यदि स्थूलता का आधार ऐन्द्रियता ही है तो आस्वादपरक 'रस' भी एक स्तर पर ऐन्द्रिय व्यापार है। इसी प्रकार यदि सूक्ष्मता का आधार अतीन्द्रियता है तो 'रस' के समान ही 'ब्यूटी' को भी पश्चिमी चिन्तन में अतीन्द्रिय स्तर पर परिभाषित किया गया है; 'रस' का सम्बन्ध यदि आत्मा से है तो 'ब्यूटी' भी 'आइडिया' तथा 'इंट्यूशन' जैसे सूक्ष्मतम अतीन्द्रिय तत्त्वों से सम्बद्ध की गई है। इसलिए स्थूलता-सूक्ष्मता के आधार पर इन दोनों अवधारणाओं में अन्तर करने का प्रयास निरर्थक है।"[41] इस तुलनात्मक विश्लेषण का जो निष्कर्ष निर्मला जैन ने दिया है, वह सचमुच ही विचारणीय है, "औचित्य से सवलित होकर रस-सिद्धान्त शुद्ध काव्य-सिद्धान्त न रहकर सौन्दर्यशास्त्र के एक व्यापक सांस्कृतिक प्रतिमान के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।"[42]

शिवबालक राय ने अपनी पुस्तक 'काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व'[43] में सौन्दर्यशास्त्र और सौन्दर्य तत्त्व की विवेचना की है। वह सौन्दर्यशास्त्र को 'कला का दर्शन' कहते हैं।[44] 'सौन्दर्य-विज्ञान' और 'सौन्दर्यशास्त्र' में भेद बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि सौन्दर्यविज्ञान मानवीय और प्राकृतिक सौन्दर्य का तथा सौन्दर्यशास्त्र कलागत सौन्दर्य का विश्लेषण करता है।[45] शिवबालक राय ने पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के मतों का उल्लेख करते हुए सौन्दर्य का विवेचन किया है लेकिन वह कोई मौलिक स्थापना नहीं कर सके हैं। सौन्दर्यशास्त्र के विषय में उनकी धारणा है कि "सौन्दर्यशास्त्र केवल विचारमूलक या सिद्धान्त प्रतिपादक ही नहीं, वह विवरण-मूलक या व्यावहारिक भी हो सकता है।"[46] सौन्दर्य के विषय में भी वही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हैं जो अनेक लेखकों ने अपनाया है। उनके शब्दों में, "सौन्दर्य वह गुण है जो वस्तु और व्यक्ति के, बाह्य और अन्तर के सामंजस्य से

41. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 436
42. रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र, पृष्ठ 446
43. प्रकाशक—वसुमति, इलाहाबाद; प्र० सं० सितम्बर 1968; पृ० सं० 264; मूल्य दस रुपये।
44. काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व, पृष्ठ 9
45. काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व, पृष्ठ 9
46. काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व, पृष्ठ 12

उत्पन्न होता है। यह गुण वस्तु पर आरोपित होते समय सुन्दर और चित्त में अनुभूत होते समय सुखद प्रतीत होता है।"[47] संस्कृत के तीन महाकवियों—वाल्मीकि, व्यास और कालिदास की सौन्दर्य-साधना का विवेचन शिवबालकराय की इस पुस्तक की विशेषता है।

1974 में प्रकाशित नगेन्द्र की पुस्तक 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका'[48] उनके अन्य लेखन की तरह ही उनके सतर्क चिन्तन का उदाहरण है। 'निवेदन' में उन्होंने यह लिखा है कि "भारतीय सौन्दर्यशास्त्र पर तो कोई ग्रन्थ उपलब्ध ही नहीं है—न अंगरेजी में और न किसी भारतीय भाषा में। ऐसा कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है जिसमें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र के विकास-क्रम का निरूपण करते हुए उसके विविध अंगों का विधिवत् अध्ययन किया गया हो।"[49] इसका अर्थ तो यह हुआ कि यह इस विषय पर सर्वप्रथम भारतीय ग्रन्थ है। यह अतिशय महत्त्व सचमुच विवादास्पद है।

पाश्चात्य सौन्दर्यशास्त्रियों की परिभाषाओं को उद्धृत करके नगेन्द्र ने सौन्दर्यशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है, "सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं के रूप में अभिव्यक्त सौन्दर्य से सम्बद्ध मौलिक प्रश्नों के तात्त्विक विवेचन और उसके परिणामी सिद्धांतों की संहिता का नाम है।"[50] नगेन्द्र यह धारणा पुष्ट करते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र केवल ललित कलाओं के सौन्दर्य तक ही सीमित है, प्रकृति-सौन्दर्य से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं। उनके शब्दों में, "प्रकृति-सौन्दर्य के प्रत्यक्ष भावन और चिन्तन से कला का जन्म होता है और कला-निबद्ध सौन्दर्य के भावन तथा चिन्तन से सौन्दर्यशास्त्र का।"[51]

नगेन्द्र ने जिस दूसरी धारणा को पुष्ट किया है, वह यह है कि सौन्दर्यशास्त्र की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। यहाँ नगेन्द्र ने सौन्दर्यशास्त्र की तुलना काव्यशास्त्र, कलाशास्त्र, मनोविज्ञान और तत्त्वमीमांसा से की है। सौन्दर्यशास्त्र पर पाश्चात्य विद्वानों के प्रामाणिक ग्रन्थों की विषय तालिकाओं का विश्लेषण करके नगेन्द्र ने सौन्दर्यशास्त्र की मूल समस्याओं का निर्धारण किया है।

वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, अभिजात सस्कृत काव्य, भारतीय दर्शन, शैवदर्शन, भक्ति-साहित्य, कलाशास्त्र, सगीत में सौन्दर्य और उसक पर्यायवाची शब्दों का सूक्ष्म विवेचन करके नगेन्द्र जब काव्यशास्त्र की ओर मुड़ते हैं तो

---

47. काव्य में सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व, पृष्ठ 15
48. प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; प्र० सं० 1974; पृ० सं० 212; मूल्य बीस रुपये।
49. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, निवेदन।
50. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 4
51. भारतीथ सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 5

लिखते हैं कि, "भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का वास्तविक एवं विकसित रूप काव्यशास्त्र में ही उपलब्ध होता है।"[52] नगेन्द्र ने इस पुस्तक में भारतीय वाङ्मय में (जिसका अभिप्राय वह सस्कृत वाङ्मय ही समझते हैं) अनेकत्र बिखरे हुए संकेत-सूत्रों का संयोजन करके यह निष्कर्ष दिया है कि, "पर्यायों की यह समृद्ध परम्परा भारतीय मनीषी की प्रबुद्ध सौन्दर्य-कल्पना की परिचायक तो है ही, साथ ही इन शब्दों की व्युत्पत्ति में सौन्दर्य के विविध तत्वों एवं धर्मों की इतनी सार्थक व्यजना निहित है कि इनके अर्थ-विश्लेषणद्वारा भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की मौलिक अवधारणाओंको सूत्रबद्ध किया जा सकताहै।'[53] नगेन्द्र यह भी मानते हैं कि भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मूल आधार तथा केन्द्र काव्यशास्त्र है और "भारतीय सौन्दर्यश स्त्र की रूप रेखा का निर्माण काव्यशास्त्र को केन्द्र में रखकर ही किया जा सकता है।"[54]

कान्तिचन्द्र पांडेय भारत के प्रख्यात सौन्दर्यशास्त्री हैं। नगेन्द्र की पुस्तक से पूर्व ही उनकी पुस्तक 'इडियन एस्थेटिक्स' अंग्रेजी में छप चुकी थी। हिन्दी में भी 'स्वतन्त्र कला शास्त्र (भारतीय),[55] 1967 में आ गई थी। इसका दूसरा भाग 'स्वतंत्रकलाशास्त्र' (पाश्चात्य) 1978 में प्रकाशित हुआ। पांडेय 'एस्थेटिक्स' को हिन्दी में 'स्वतन्त्रकला शास्त्र' कहते हैं। उनके विचार से 'भारतीय दृष्टिकोण से स्वतन्त्रकलाशास्त्र स्वतन्त्र कलाओं का विज्ञान एवं दर्शन है।"[56] और "स्वतन्त्र कलाएँ वह हैं जिनकी कृतियां परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में इस प्रकार से उपस्थित करती हैं कि वे आवश्यक मानसिक दशाओं से युक्त सहृदय कलारसिकों के लिए ब्रह्मानन्द प्राप्ति का समुचित साधन बन जाती हैं।"[57] भारत में जो कलाओं का वर्गीकरण किया गया है, उसके अनुसार स्वतन्त्र कलाएं तीन हैं—काव्य, संगीत एव वास्तु। इन्हीं तीन कलाओं में ऐसी कृतियों को उत्पन्न करने की शक्ति है जो कि परब्रह्म को इन्द्रियग्राह्य रूप में प्रदर्शित कर सहृदय को परतत्त्व के सत्य स्वरूप का अनुभव करा सकती हैं। स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पांडेय के अनुसार, सब कलाओं की कृतियों में उपलब्ध सौन्दर्य को अपना प्रतिपाद्य विषय नहीं बनाता, न प्रकृतिगत सौन्दर्य को ही। इसीलिए 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' और 'सौन्दर्यदर्शन' पर्यायवाची शब्द नहीं हैं।"[58] लेकिन अपने ग्रन्थ के दूसरे भाग में पांडेय ने लिखा है कि, "वर्तमान सन्दर्भ में एस्थेटिक्स शब्द का निम्नलिखित अर्थ अधिक सुष्ठु और विषयानुकूल मालूम पड़ता है— वह विज्ञान एवं दर्शन जिसका प्रतिपाद्य विषय कलाकृतिगत और

52. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 82
53. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 194
45. भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका, पृष्ठ 199
55. प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी; प्र० सं० 1967 पृष्ठ संख्या 670, मूल्य 35 रुपये।
56. स्वतंतकला शास्त्र, प्रथम भाग, भूमिका।
57. स्वतंत्रकला शास्त्र, प्रथम भाग, भूमिका।
58. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, प्रथम भाग, पृष्ठ 4

प्रकृतिगत सौन्दर्य तथा भव्यता है।"[59] 'स्वतन्त्रकलाशास्त्र' के क्षेत्र-निर्धारण में यह अनिश्चित धारणा भ्रम उत्पन्न करती है।

कान्तिचन्द्र पांडय ने 'स्वतंत्रकलाशास्त्र' के प्रथम भाग (भारतीय) में कला विवेचन, नाट्यशास्त्र, रस-सिद्धान्त, संस्कृत नाटकों का रचना विधान, संगीत कला, वास्तुकला का विस्तृत विवेचन किया है। द्वितीय भाग (पाश्चात्य) में प्लेटो, अरस्तू, प्लोटाइनस, डेकार्ट, ब्रिटेन के कलाशास्त्रीय दार्शनिक, जर्मनी में स्वतन्त्र कलाशास्त्रीय विचारधाराएं, काण्ट, हेगेल, शोपनहावर और क्रोचे आदि की विचार-धाराओं का विवेचन हुआ है। द्वितीय भाग की भूमिका में पांडेय ने स्वयं लिखा है कि, "प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में पश्चिमी विचारक या विचारकों के स्वतन्त्रकला शास्त्रीय विचारों के साथ समान विचारों वाले भारतीय चिन्तक या चिन्तकों के सिद्धान्तों की तुलना करके समानताएं प्रदर्शित की गई है और अन्तिम अध्याय में तुलनात्मक विवेचन का सारांश दिया गया है। यह ग्रन्थ पाश्चात्य स्वतत्रकलाशास्त्र की उन प्रमुख धाराओं को सम्मुख रखता है जो तुलनात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।"[60] तुलनात्मक सौंदर्यशास्त्र के क्षेत्र में कान्तिचन्द्र पांडेय का योगदान अविस्मरणीय है और उनके ग्रन्थ की उपादेयता असदिग्ध है।

एस० टी० नरसिंहाचारी ने 'सौंदर्य तत्त्व निरूपण'[61] में 'दार्शनिकता से बचकर सामान्य विवेक के आधार पर सौन्दर्य-भावना को स्पष्ट करने का प्रयत्न' किया है। वह मानते हैं कि सौंदर्यशास्त्र दर्शन का अंग है और उसमें दार्शनिक उलझन भरी हुई है। उनका 'दृष्टिकोण' है कि "उसका चिन्तन सौंदर्य के तात्त्विक स्वरूप को भले ही प्रकट करे, कला या साहित्य की व्याख्या में विशेष उपयोगी नहीं है।......यदि सौंदर्य की दार्शनिक भावना जटिल है तो उसे साहित्य के संदर्भ में सरल व्यावहारिक रूप देना चाहिये जिससे कलात्मक अभिव्यजना की मूल चेतना स्पष्ट हो।"[62] नरसिंहाचारी ने अपनी पुस्तक में सौंदर्य के साथ-साथ उदात्तता और कुरूपता का भी विवेचन किया है। सौंदर्य के अनेक अंग्रेजी और संस्कृत पर्यायवाची शब्दों का सूक्ष्म अर्थ-भेद, भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण से सौन्दर्य का निरूपण, सृष्टि-सौंदर्य और कला-सौंदर्य, सौंदर्यानुभूति और रसानुभूति, सत्य शिव सुन्दर, सौंदर्यबोध तथा सौंदर्य के साधक तत्वों का विवेचन नरसिंहाचारी ने विस्तार से किया है। लेखक के निष्कर्ष तो मौलिक नहीं हैं लेकिन उनकी प्रतिपादन शैली सुबोध है। कुरूपता का भी चिंतन इस पुस्तक की अपनी विशेषता है।

---

59. स्वतंत्रकलाशास्त्र, द्वितीय भाग, पृष्ठ 4-5
60. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, द्वितीय भाग, भूमिका, पृष्ठ 1
61. प्रकाशक— वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं० 1977, पृ० सं० 280, मूल्य चालीस रुपये।
62. सौन्दर्य तत्व निरूपण, दृष्टिकोण

सौन्दर्यशास्त्र को 'सौन्दर्य बोध शास्त्र' कहते हुए रमेश कुन्तल मेघ ने इसे 'महाशास्त्र' मानकर महाग्रन्थ लिखा है—'अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा।'[63] हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्र विषय का यह नवीनतम ग्रन्थ है। इससे पूर्व इस विषय को छूने वाली मेघ की दो पुस्तकें पहले भी छप चुकी हैं—'मध्ययुगीन रसदर्शन और समकालीन सौन्दर्यबोध'[64] तथा 'सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन।'[65]

'एस्थेटिक्स' के लिए मेघ ने 'सौन्दर्यबोधशास्त्र' नाम चलाना चाहा है, यद्यपि एक स्थान पर वह 'सौन्दर्यशास्त्र' का प्रयोग करके परिभाषा देते हैं, "सौन्दर्यशास्त्र का प्रकृत या साधन मूल्य सौन्दर्य है। सौन्दर्यशास्त्र कला के सृजन तथा आशंसा, प्रेरणा तथा प्रेक्षणीयता, कौशल तथा अनुशीलन, कला सम्बन्धित प्राकृतिक गुणों से नजदीक का सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः यह शास्त्र कला का दर्शन कहा जा सकता है।"[66] अपनी 'संहिता' ('अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा' को मेघ 'संहिता' कहते हैं!) में 'सौन्दर्यबोधशास्त्र' को परिभाषित करते हैं कि "कलाकार—कला या सौन्दर्यवस्तु प्रेक्षक के त्रित्व से सम्बन्धित नाना भांति के सवालों और समस्याओं का सैद्धांतिक निदान खोजना सौन्दर्यबोधशास्त्र का लक्ष्य है।"[67] तथा "सौन्दर्यबोधशास्त्र एक ओर ललित या सुन्दर कलाओं की सामान्य विशेषताओं का अन्वेषण करता है और दूसरी ओर उसे यथार्थता से सम्बद्ध करता है। निष्कर्ष यह है कि किसी भी दशा में सौन्दर्यबोधशास्त्र 'कला' तथा 'जीवन' की संवंधता कायम करता है। जीवन भी कच्चे माल के रूप में सुन्दर है; कला परिष्कृत माल के रूप में तो अधिक सुन्दर है ही।"[68]

इसमें कोई संदेह नहीं कि मेघ को संस्कृत काव्यशास्त्र और पाश्चात्य लेखन की परम्परा की व्यापक जानकारी है और उनके लेखन में अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के घटाटोप एवं विभिन्न अवधारणाओं को स्पष्ट करने के लिए की गई नक्शे-बाजी को देखकर पाठक 'आतंकित' हो जाता है लेकिन उनके निष्कर्ष भ्रामक हैं और वे कोई ऐसी ठोस स्थापना करने में समर्थ नहीं दीखते जो मौलिक कही जा सके या कम से कम साफ-साफ ही पहचानी जा सके। कला और सौन्दर्य का विवेचन करते

---

63. प्रकाशक—मैकमिलन कम्पनी ऑफ इन्डिया, लिमिटेड, प्र० सं० 1977, पृ० सं० 504, मूल्य 51 रुपये।
64. प्रकाशक—राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं० 1969, पृ० सं० 365, मूल्य सोलह रुपये।
65. प्रकाशक—गुरुनानक यूनीवर्सिटी, अमृतसर, प्र० सं० 1975, पृ० सं० 92, मूल्य दस रुपये।
66. सौन्दर्य मूल्य और मूल्यांकन, पृष्ठ 62
67. अथातो सौंदर्य जिज्ञासा, पृष्ठ 47
68. अथातो सौन्दर्य जिज्ञासा, पृष्ठ 47

हुए वह इन दोनों को 'कुछ धुंधली सीमाओं से घेरने के अलावा' कुछ नहीं कर पाते और कहते हैं कि सौन्दर्य की भी 'पूर्ण परिभाषा देना नामुमकिन सा है।"[69] लेकिन इतना अवश्य कहते हैं कि, "सौन्दर्य एक 'रूप' अथवा एक 'विशुद्ध रूप' या एक 'विचार' अथवा एक 'सामाजिक धारणा, है। सारांश यह है कि सौन्दर्य एक गुणात्मक मूल्य है, एक प्रकृत मूल्य।"[70] 'सौन्दर्य क्या है?'— इस प्रश्न पर विचार करते हुए 'रस की प्रकृति' की, समानता या विभिन्नता दर्शाये बिना, चर्चा भी अप्रासंगिक प्रतीत होती है।

'अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा' में कला, सौन्दर्य और सौन्दर्यबोधशास्त्र का परिचय देने के बाद कलाकृति, कलाओं का वर्गीकरण, आशंसक या सहृदय, कलाकार, सृजन प्रक्रिया और सर्जनात्मक कृत्य, अभिव्यंजना, संप्रेषणीयता, सौन्दर्यतात्त्विक वृत्ति तथा सौन्दर्यबोधानुभव, संस्कृति मनुष्य और इतिहास—अध्यायों में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये हैं। मेघ यह मानते हैं कि "जब कलाओं का अनुशीलन दार्शनिकों ने किया तो वह 'सौन्दर्यबोधशास्त्र' हुआ, जब आलोचकों ने किया तो वह 'समालोचना' हुआ और जब कलाकारों तथा कारीगरों ने किया तो वह 'कलाकौशल' बना[71] अनेक असंगतियों, अप्रासंगिक विवेचनों और अस्पष्ट निष्कर्षों के बावजूद मेघ की पुस्तक इसलिए पढ़ी जा सकती है कि विषय पर सोचने के लिए अनेक सम्भावनाओं के द्वार इसमें खुलते हैं।

यहां उन पुस्तकों की चर्चा करना भी जरूरी है जो अन्य भाषाओं से अनूदित होकर हिन्दी में आई है। यद्यपि इनसे हिन्दी विचारकों के सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन का ज्ञान नहीं हो सकता लेकिन हिन्दी की समृद्धि इनसे अवश्य हुई है। इनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय है मूल बंगला से अनूदित सुरेन्द्रनाथदास गुप्ता की पुस्तक 'सौन्दर्य-तत्त्व'[72] जिसके अनुवादक आनन्दप्रकाश दीक्षित हैं। दासगुप्ता की विचारधारा का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा लेकिन आनन्दप्रकाश दीक्षित ने जो लम्बी परिचयात्मक भूमिका लिखी है, वह हिन्दी की निधि है। इसमें दीक्षित ने दासगुप्ता के विवेचन का सार उपस्थित करते हुए भारतीय दृष्टि की अपनी ओर से कुछ विशेष चर्चा की है। पाश्चात्य विचारकों के सौन्दर्य-चिन्तन की रूपरेखा के बाद भारतीय विचारकों की मान्यताओं को दीक्षित ने बहुत स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि, "सौन्दर्य और सौन्दर्यबोध के प्रति भारतीय विचारक भी जागरूक रहे हैं और साहित्य तथा कला के सम्बन्ध में प्रचलित नाना पथों और सम्प्रदायों से यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि उनकी दृष्टि भी योरोपीय विचारकों की भांति सौन्दर्य की नाना वीथियों

---

69. अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा, पृष्ठ 5
70. अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा, पृष्ठ 6
71. अथातो सौन्दर्यजिज्ञासा, प्रस्तावना, पृष्ठ viii
72. प्रकाशक—भारती भंडार, इलाहाबाद, प्र० सं० संवत् 2017 वि०, पृष्ठ सं० 286, मूल्य सात रुपये।

में विचरण कर चुकी है, बल्कि उनसे पहले ही कर चुकी है तथा यहां के कवियों ने भी उस तत्त्व को खुली आँखों परखा है और विवेकपूर्वक सन्तुलन का प्रयत्न भी किया है। अन्तर है तो यही कि यहाँ इस नाम से कोई पृथक् शास्त्र नहीं लिखा गया।'[73] दीक्षित ने अपनी मौलिक रचना 'सौन्दर्य समीक्षा' की सूचना भी दी है लेकिन यह रचना, संभवत:, अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है।

'सौन्दर्य-तत्त्व और काव्य-सिद्धान्त'[74] सुरेन्द्र बारलिंगे की पुस्तक है। अनुवादक मनोहर काले ने 'प्राक्कथन' में लिखा है कि "इस ग्रन्थ में डा० बारलिंगे के मूल मराठी ग्रन्थ 'सौन्दर्या चें व्याकरण' में संकलित अधिकांश लेखों का अनुवाद आ गया है। इसके अतिरिक्त भी इनके अनेक लेख इसमें संकलित किये गये हैं।'[75]

जर्मन दार्शनिक इमेनुअल काण्ट के सौन्दर्यशास्त्रीय प्रबन्ध का हिन्दी रूपान्तर 'सौन्दर्य-मीमांसा'[76] शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। रूपान्तरकार रामकेवलसिंह हैं। रूपान्तरकार की ओर से कोई परिचयात्मक भूमिका प्रस्तुत नहीं की गई है। इसी प्रकार 1997 में क्रोचे के 'ए लेक्चर प्रिपेयर्ड फॉर दि राइस इन्स्टीट्यूट' का अनुवाद श्री कान्तखरे ने 'सौन्दर्यशास्त्र के मूल तत्त्व'[77] शीर्षक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। **1972** में आर० जी० कलिंगवुड की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिंसिपिल्स ऑफ आर्ट' का अनुवाद 'कला के सिद्धान्त'[78] शीर्षक से प्रस्तुत हुआ है। अनुवाद ब्रजभूषण पालीवाल ने किया है। इसमें भी मूल लेखक तथा उसके कृतित्व का कोई परिचय नहीं दिया गया है।

1959 में प्रकाशित येरिक न्यूटन की प्रसिद्ध पुस्तक 'दि मीनिंग ऑफ ब्यूटी' का सार संक्षेप 'सौन्दर्य का तात्पर्य'[79] नाम से 1975 में छपा है। यह कार्य रामकीर्ति शुक्ल ने किया है। 'आमुख' में शुक्ल ने लिखा है कि, "यहाँ सौन्दर्य की व्याख्या न तो अमूर्त्त प्रत्यय के रूप में की गई है और न इसे नैतिक अथवा आध्यात्मिक मूल्यों से संभ्रमित ही किया गया है। सौन्दर्य सम्बन्धी व्याख्या का आधार यहां पाश्चात्य जगत् की कुछ कालजयी कलाकृतियों को बनाया गया है और उनके माध्यम से एक विश्वसनीय और आसानी से समझ में आ सकने वाली व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

---

73. सौन्दर्य-तत्त्व, भूमिका, पृष्ठ 54
74. प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्र० सं० सितम्बर 1963, पृ० सं० 179, मूल्य 6.50 रुपये।
75. सौन्दर्य-तत्व और काव्य सिद्धान्त, प्राक्कथन, पृष्ठ त
76. प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद, प्र० सं० 1964, पृष्ठ संख्या 190
77. प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद, प्र० सं० 1967, पृ० सं० 108, मूल्य तीन रुपये
78. प्रकाशक—राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्र० सं० 1972, पृ० सं० 325, मूल्य ग्यारह रुपये।
79. प्रकाशक—उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्र० सं० 1975, पृ० सं० 115, मूल्य छह रुपये।

पुस्तक के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना विशेषज्ञों के लिए नहीं की गई है। ...... इस दृष्टि से इस पुस्तक का बहुत अधिक महत्व है।"[80]

हिन्दी में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन का यह सर्वेक्षण सर्वांगीण नहीं है क्योंकि इसमें पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित लेखों को शामिल नहीं किया गया है। संभव है कि मेरी अल्पज्ञता और अज्ञान के कारण कुछ पुस्तकों का भी उल्लेख न हुआ हो। लेकिन इस सर्वेक्षण से एक तथ्य तो स्पष्ट होता ही है कि सौन्दर्यशास्त्र के बारे में जो भ्रम-जाल पाश्चात्य चिन्तकों के बीच तना हुआ है, वही हिन्दी में भी है। 'सौन्दर्यशास्त्र' संज्ञा, सौन्दर्य की परिभाषा, सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र आदि विषयों पर इतना मत-वैभिन्न्य है कि जिज्ञासु पाठक इस उलझन में फंसता चला जाता है। आशा है कि चिन्तन-अनुचिन्तन से सौन्दर्यशास्त्रीय अवधारणाओं पर छाया कुहासा हटेगा और सौन्दर्यशास्त्र का स्वरूप स्पष्ट होगा।

—अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
महाराजसिंह कालेज
सहारनपुर—247001

---

80. सौन्दर्य का तात्पर्य, आमुख, पृष्ठ 9

भविष्य का सौन्दर्यशास्त्र
(श्री अरविन्द का सौन्दर्य-दर्शन)

डा० प्रेम त्यागी

एक सौन्दर्यशास्त्री के रूप में श्री अरविन्द का महत्त्व उनके व्यक्तित्व के अन्य विविध रूपों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। वस्तुतः उनकी अद्भुत प्रतिभा का प्रत्येक शिखर अद्वितीय सुषमा से मंडित है। अनेक वर्षों तक इंगलैंड में रहते हुए उन्होंने अंग्रेजी ही नहीं; ग्रीक और लेटिन, फ्रेंच और इटेलियन भाषा-साहित्य का गंभीर अध्ययन किया था और स्वदेश लौटने पर संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भारतीय भाषाओं में नैपुण्य प्राप्त किया था। इसीलिए वह पाश्चात्य और भारतीय चिन्तन-परम्परा के श्रेष्ठतम अंश को ग्रहण करके एक नवीन विचार-सरणि प्रवाहित कर सके। रोमा रोलां ने श्री अरविन्द को एशिया और यूरोप की प्रतिभा के पूर्णतम समन्वय का प्रतीक माना है।[1] श्री के० बालसुब्रमण्य अय्यर स्मारक भाषणमाला के अन्तर्गत भाषण करते हुए प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंगर ने श्री अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्र को भविष्य का सौन्दर्यशास्त्र कहा था।[2] श्री अरविन्द के योग और दर्शन की शब्दावली में कहें तो इसे अधिमानसिक सौन्दर्यशास्त्र कह सकते हैं।

श्री अरविन्द का सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन मुख्यतः 'दि फ्यूचर पोयट्री'[3] नामक ग्रन्थ में व्यक्त हुआ है। यह ग्रन्थ उनकी पत्रिका 'आर्य' में जेम्स एच० कजिन्स की पुस्तक 'न्यू वेज इन इंगलिश लिटरेचर' के आलोचनात्मक रिव्यू के रूप में धारावाहिक रूप से (दिसम्बर 1917 से जुलाई 1920 तक) प्रकाशित हुआ था लेकिन यह, जैसा कि प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंगर ने लिखा है, आलोचना का ऐसा परम्पराभिन्न

---

1. "the completest synthesis that has been realised to this day of the genius of Asia and the genius of Europe." – Quoted in Sri Aurobindo : K. R. Srinivasa Iyengar, 1945, Page 12.
2. देखिये—Sri Aurobindo Circle, Sri Aurobindo Society Annual, 1976, Page 55.
3. The Future Poetry ; Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry; 1953.

भविष्यवक्ता ग्रन्थ बन गया जिसमें नये अधिमानसिक सौन्दर्यबोध का प्रकाशन हुआ है।[4] प्रो० शिशिरकुमार घोष ने इसे सौन्दर्यशास्त्र विषय पर मौलिक देन देने वाला इस युग का एकमात्र ग्रन्थ स्वीकार किया है।[5] श्री अरविन्द के साहित्य में इस ग्रन्थ का वही महत्त्वपूर्ण स्थान है जो अरस्तू की रचनाओं में 'पोयटिक्स' का है। इसके अलावा श्री अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन को समझने के लिए उनके पत्र भी अपरिहार्य हैं।[6] इन पत्रों में साहित्य, कला और काव्य-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण जिज्ञासाओं के समाधान संकलित हैं। भारतीय संस्कृति के आधार (The Foundations of Indian Culture), मानव चक्र (The Human Cycle), कला का राष्ट्रीय मूल्य (The National Value of Art) और दिव्य जीवन (The Life Divine) भी श्री अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्र के अध्ययन के लिए अनिवार्य ग्रन्थ हैं। इस संक्षिप्त निबन्ध में यह तो संभव नहीं है कि श्री अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्र का व्यापक परिचय दिया जा सके। इसमें तो मेरा यही प्रयास है कि उन मुख्य बिन्दुओं को स्पर्श कर सकूं जो व्यापक अध्ययन की जिज्ञासा जगा सकें।

अठारहवीं शती के मध्य में बाउमगार्टेन से शुरू होकर आज तक सौन्दर्यशास्त्र का इतिहास सौन्दर्य —और विशेषतः ललित कलाओं के सौन्दर्य—के विवेचन का रोचक इतिहास है। श्री अरविन्द का सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन इस इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना है। इस चिन्तन और पारम्परिक चिन्तन में एक आधारभूत और मौलिक अन्तर है। श्री अरविन्द का प्रसिद्ध और मूल सूत्र 'सारा जीवन ही योग है' कला और साहित्य में भी लागू होता है। कला जीवन का अंग होने से अनिवार्यतः योग ही है। कला के सभी रूप—कविता, संगीत, चित्र, मूर्त्ति, वास्तु आत्मिक आनन्द के द्वारा किये गये सर्जन कार्य ही हैं। ये सब सौन्दर्य के विविध रूप हैं। परमात्मा ने आनंदित होकर विविध लयों और ध्वनि-गतियों में संसार रचा है। कलाकार भी उस आनन्द की स्थिति में अपरिहार्य शब्द और लय की खोज करता है और अपनी कला के विशिष्ट सौन्दर्य-रूप को रचता है। श्रोता या दर्शक सर्जन के माध्यम द्वारा सर्जक के आनन्द को पुनः ग्रहण करता है। इसलिए सब कलाएं, श्री अरविन्द के अनुसार, शुद्ध निरपेक्ष सत्ता के परम आनन्द की ओर मनुष्य के आरोहण का अंग हैं। कलाएं हैं सभ्य बनाने के लिए, परिष्कार के लिए शुद्धि के लिए और

4. "an unconventional but truly prophetic work of criticism embodying the manifests of the new overhead aesthesis." Sri Aurobindo : A Biography and a History, Vol. II, Page 1107.
5. "perhaps the one original contribution to the subject of aesthetics in our times."—Sri Aurobindo Circle, 1958, Page 63.
6. Letters on Poetry, Literature and Art ; Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry ; 1972.

सामाजिकों को दिव्य बनाने के लिए।

श्री अरविन्द का दर्शन चेतना के आरोहण-अवरोहण का दर्शन है। उनका विश्वास है कि शाश्वत पूर्णता हमें अपने ढंग से अपने रूप में ढाल रही है। कला वह माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य पूर्णता की रहस्यमयी आकांक्षा को पूरा करता है। उच्चतम कला वही है जो सार्थक रूप के ईश्वरप्रेरित प्रयोग द्वारा आत्मा के द्वारों को खोलती है। मनोज दास ने श्री अरविन्द के कला और सौन्दर्यचिन्तन की इस विलक्षणता की ओर संकेत किया है कि श्री अरविन्द की दृष्टि में मनुष्य एक ऐसी सत्ता है जो निश्चित रूप से अननुभूत क्षमताओं की ओर विकासमान है।[7]

श्री अरविन्द मानते हैं कि सौन्दर्यशास्त्र का सम्बन्ध मुख्य रूप से सौन्दर्य के साथ, लेकिन व्यापक रूप से रस के साथ है। सौन्दर्यशास्त्र मन की प्रतिक्रिया, प्राणिक अनुभूति, वस्तुओं में 'आस्वाद' के बोध से सम्बन्धित है जिसका आध्यात्मिक अनुभूति होना आवश्यक नहीं है। सौन्दर्यशास्त्र मानसिक क्षेत्र और उस पर निर्भर सामग्री से सम्बन्धित है। लेकिन श्री अरविन्द की देन मानवीय रसबोध (Aesthesis) को चेतना के उस स्तर तक उठा ले जाने में निहित है जिसे वह अधिमन (Overmind) कहते हैं। वी० के० गोकाक ने ठीक ही लिखा है कि श्री अरविन्द के इस लोकोत्तर कला-चिन्तन ने अन्वेषण के इस क्षेत्र में नयी संभावनाओं के द्वार खोले हैं।[8] श्री अरविन्द ने लिखा है कि अधिमन सौन्दर्य का आलिंगन करता है और उसे उदात्त बनाता है। अधिमन का अपना मौलिक रसबोध है जो नियमों और सिद्धान्तों में सीमित नहीं है। यह तो सार्वभौम और शाश्वत सौन्दर्य को देखता है।[9] इसी निबन्ध में आगे प्रेरणा के प्रसंग में अधिमन के विषय में चर्चा होगी।

काव्य में, कवि और सामाजिक में, एक प्रकार का काव्यात्मक रसबोध होना

---

7. "There is a singularity in Sri Aurobindo's vision of poetry and his ideas of aesthetics. The first of the qualities which go to make this singularity, to put it in a nutshell, lies in the fact that Sri Aurobindo views man as an evolving being with the possibility—or rather the assurance of—hitherto unrealised capacities opening up in him."—Sri Aurobindo, Page 64.
8. देखिये—'Eastern and Western Literature' in 'Towards Eternity', Page 90.
9. The overmind "embraces beauty and sublimates it ; it has an essential aesthesis which is not limited by rules and canons ; it sees a universal and an eternal beauty while it takes up and transforms all that is limited and particular."—Letters of Sri Aurobindo (on Poetry and Literature), Third Series, Page 99.

अनिवार्य है लेकिन यह रसबोध अनेक प्रकार का होता है। सामान्य रसबोध के द्वारा कविता में निहित अधिमानसिक तत्त्व का मूल्यांकन संभव नहीं है। केवल आलोचक-बुद्धि इसकी समीक्षा नहीं कर सकती। अपने एक पत्र में श्री अरविन्द ने इस अधिमानसिक तत्त्व की व्याख्या की है कि इसके लिए मूलभूत और सार्वभौम रसबोध की आवश्यकता है जो तलीय दृश्य के पीछे तक का अनुभव करने में समर्थ हो।[10]

रसबोध (Aesthesis) क्या है ? श्री अरविन्द ने इसका उत्तर देते हुए यह स्पष्ट किया है कि रसबोध हमारी चेतना की प्रतिक्रिया है जो वस्तुओं के एक निश्चित तत्त्व को ग्रहण करती है। यह प्रतिक्रिया मानसिक, प्राणिक और शारीरिक हो सकती है। यह वह चीज है जो इनका आस्वाद है, रस है और जो मन और इन्द्रियों के मार्ग से आस्वाद या भोग का सुख जगाती है। यह रसबोध आत्मिक आनन्द को भी जगा सकता है जो सामान्य सुख की अपेक्षा गहन-गंभीर है।[11] कविता; सब कलाओं की तरह; रस, भोग, आनन्द की खोज कराती है लेकिन केवल यही नहीं। कविता इससे अधिक भी बहुत कुछ कर सकती है पर कम से कम यह तो उसे करना ही चाहिए अन्यथा वह कविता नहीं होगी। इसलिए रसबोध, श्री अरविन्द के विचारानुसार, अन्य कलाओं की तरह कविता का भी सारतत्त्व है। लेकिन यह एकमात्र तत्त्व नहीं है और रसबोध भी केवल कला या कविता में सीमाबद्ध नहीं होता। यह संसार की प्रत्येक वस्तु तक व्याप्त है।[12]

साधारणतः रसबोध का मुख्य सम्बन्ध सौन्दर्य से है, लेकिन श्री अरविन्द की दृष्टि में इसका क्षेत्र व्यापक है। उनके विचार से सार्वभौम आनन्द रसबोध का

---

10. "A fundamental and universal aesthesis is needed, something also more intense that listens, sees and feels from deep within and answers to what is far behind the surface. A greater, wider and deeper aesthesis then which can answer even to the transcendent and feel too whatever of the transcendent or spiritual enters into the things of life, mind and sense."—Ibid, Page 101.
11. Letters of Sri Aurobindo (on Poetry and Literature), Third Series, Page 122.
12. "Aesthesis therefore is of the very essence of poetry, as it is of all art. But it is not the sole element and aesthesis too is not confined to a reception of poetry and art; it extends to everything in the world; there is nothing we can sense, think or in anyway experience to which there cannot be an aesthetic reaction of our conscious being."
—Ibid, Page 123

मूलकारण है और सार्वभौम आनन्द तीन मुख्य रूप धारण करता है—सौन्दर्य, प्रेम और आह्लाद—सम्पूर्ण सत्ता का आह्लाद, सभी वस्तुओं में व्याप्त आह्लाद।[13] परमात्मा जहां सौन्दर्य की सृष्टि करता है, वहीं कुरूपता भी रचता है। प्रेम और आकर्षण के साथ घृणा और विकर्षण है, दुःख के साथ सुख है और इन द्वन्द्वों के बीच एक सामान्य तटस्थता और उदासीनता भी है। रसबोध के क्षेत्र को केवल सौन्दर्य तक सीमित करना उचित नहीं है क्योंकि यह सब कुछ रसबोध के क्षेत्र में आता है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि रसबोध की मलिनतम प्रतिक्रिया उदासीनता है और उच्चतम है उल्लास। उल्लास (Ecstasy) मूल या परमानन्द की ओर वापसी का प्रतीक है। वह कला या कविता परमोच्च है जो कि हमारे लिए उस परम उल्लास का कुछ अंश ला सके। उदासीनता और उल्लास एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। चेतना का आरोहण हमें सघन आनन्द की ओर ले जाता है और अवरोहण में यह सघनता कम होती चली जाती है। जब हम मन से ऊपर के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तो सब कुछ बदल जाता है। उच्चतर मूल्य हमारे जीवन के, मन के और शारीरिक चेतना के मूल्यों का स्थान ले लेते हैं।[14] जब सामान्य रसबोध अधिमानस के क्षेत्रों में प्रवेश करता है तो यह दो तरह के परिवर्तनों से गुजरता है—

1. यह विशुद्ध आनन्द में बदल जाता है और उच्चतर एवं गंभीर उल्लास के लिए समर्थ हो जाता है।

2. यह पार्थक्य के स्थान पर सार्वभौमिकता की ओर मुड़ता है और तब निम्नचेतना के द्वैत एवं संघर्ष अन्तर्धान हो जाते हैं।

श्री अरविन्द कहते हैं कि अधिमानस (Overmind) में हम प्रथम बार सार्वभौम सौन्दर्य, सार्वभौम प्रेम और सार्वभौम उल्लास का दृढ़ आधार प्राप्त करते हैं।[15] अधिमानस में इनकी झलकमात्र नहीं मिलती बल्कि स्थायी अनुभूति होती है। इस चेतना में व्यक्ति जिधर भी देखता है, उधर ही सार्वभौम (Universal) सौन्दर्य के दर्शन करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि इस स्थिति में विभेदों और विरोधों

---

13. "It is the universal Ananda that is the parent of aesthesis and the universal Ananda takes three major and original forms, beauty, love and delight, the delight of all existence, the delight in things, in all things."
—Ibid, Page 123

14. "As we climb beyond Mind, higher and wider values replace the values of our limited mind, life and bodily consciousness."—Ibid, Page 124.

15. "In the Overmind, we have a first firm foundation of the experience of a universal beauty, a universal love, a universal delight."—Ibid, Page 125.

की उपेक्षा होने लगती है या उनकी समझ नहीं रहती। यह रसबोध तो वस्तुओं के भीतर देखता है उनमें निहित उस वैशिष्ट्य को देखता है जिसे मन नहीं देख सकता। मन तो मात्र उपरितलीय सम्बन्धों और प्रतिक्रियाओं से सम्बन्ध रखता है। अधिमानसिक चेतना वस्तु को उसकी परिपूर्णता में देखती है इसलिए इसे प्रत्येक 'रूप' सौन्दर्य के गंभीर और विशाल अर्थों में सुन्दर प्रतीत होता है। श्री अरविन्द के विचारानुसार अधिमानस प्रत्येक वस्तु की आत्मा को देखता है, केवल बाह्य रूपाकार को नहीं या मन और जीवन के लिए इसके महत्त्व को नहीं। यह सबमें कम एक आत्मा के दर्शन करता है – 'सर्वत्र दिव्य' को देखता है, सबसे एकात्मता अनुभव करता है, प्रेम और सहानुभूति अनुभव करता है। इस सब में अधिमानस सक्रिय रहता है।[16]

कला सौन्दर्य की आविष्कृति और अभिव्यक्ति है। कला का एकमात्र प्रयोजन यही है और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति या आविष्कृति से ही इसकी परख हो सकती है। वह सब सामग्री कलाकार की विषय वस्तु है जो सौन्दर्य के रूप में प्रकट होने के योग्य हो।[17] श्री अरविन्द ने व्यापक और सच्चे अर्थों में सौन्दर्य की एक संश्लिष्ट अवधारणा प्रस्तुत की है। उनके शब्दों में "सौन्दर्य वह है जो हम में सन्तोषजनक सुख और पूर्ण स्वस्थता की भावना भर दे।"[18] जब कोई वस्तु उस तत्त्व को पूर्ण-रूपेण व्यक्त कर देती है जो उसे व्यक्त करना था और जब परिपूर्णता और सामंजस्य का समन्वय हो जाता है तब सौन्दर्य का जन्म होता है।

श्री अरविन्द यह मानते हैं कि मनुष्य के भीतर दो सत्ताएं हैं—सौन्दर्यबोधी सत्ता और नैतिक सत्ता। सौन्दर्यबोधी सत्ता सौन्दर्य की खोज करती है और नैतिक सत्ता शिव को खोजती है। हमारी सौन्दर्यबोधी सत्ता सौन्दर्य के माध्यम से उस निरपेक्ष 'दिव्य' को ही खोजती है। व्यक्ति, प्रकृति, जीवन, विचार और कला – इन सबमें उस सर्व-सुन्दर की ही खोज होती है क्योंकि वही विभिन्न रूपों और परदों में छिपा है। मनुष्य की सौन्दर्य के लिए खोज महान सर्जनात्मक कलाओं–कविता, चित्र, मूर्ति, वास्तु में गहन और सन्तोषजनक अभिव्यक्ति पाती है लेकिन यदि सही रूप में समझें तो जीवन के किसी भी क्षेत्र से इसे अलग नहीं किया जा सकता। श्री अरविन्द के विचार से सौन्दर्य का सार्वभौम और परिपूर्ण मूल्यांकन और सारे जीवन को

---

16. Ibid, Page 127.
17. "Art is for that alone and can be judged only by its revelation or discovery of beauty. Whatever is capable of being manifested as beauty is the material of the artist."—Letters on Poetry, Literature and Art, Page 331.
18. "Beauty is that which fills us with a sense of satisfying pleasure and perfect fitness."—Sri Aurobindo Birth Centenary Library, Vol. 3, Page 14.

सौन्दर्यपूर्ण बनाने का कार्य पूर्ण व्यक्ति और पूर्ण समाज की अनिवार्य विशेषता है।[19]

सौन्दर्य की खोज बौद्धिक या तर्क की क्रिया नहीं है। यह तो हमारे जीवन के मूल से फूटती है। यह एक सहजवृत्ति (Instinct) और आवेग (Impulse) है। तर्क और बुद्धि इस सहजवृत्ति और आवेग के सर्जक नहीं हो सकते। इनका काम तो पहचान और भेद करना, सौन्दर्यशास्त्र के नियम बनाना, उन्नत आस्वाद और सही ज्ञान के द्वारा मूल्यांकन करना है। तर्क और बुद्धि सौन्दर्य-चेतना के निर्माता तथा इसके सजग निर्णायक एवं पथ प्रदर्शक हैं। श्री अरविन्द हमें सौन्दर्य की प्रतिबन्धित सीमाओं से आगे ले जाते हैं। उनका कहना है कि जहां सौन्दर्य की महानतम और शक्तिशाली सृष्टि की जाती है और जब उसका मूल्यांकन और सुख पराकाष्ठा पर पहुंचता है तो तर्क पीछे छूट जाता है। कविता और कला में सौन्दर्य का सर्जन तर्क के क्षेत्र में नहीं आता।[20] श्री अरविन्द अप्रतर्क्य (Supraration) सौन्दर्य में विश्वास करते हैं जिसका सर्जन सर्जक में विज़न (Visional) और अंतःप्रेरणा (Inspiration) के आगमन से होता है। अतःप्रेरणा जितनी अधिक बुद्धि और तर्क से मुक्त होगी, उतनी ही समृद्ध होगी।

बुद्धि के द्वारा निर्दोष शिल्प और तकनीक की प्राप्ति में मदद मिल सकती है लेकिन इससे सौन्दर्य के उस अक्षय सत्य को रूप नहीं दिया जा सकता जो आंतरिक वास्तविकता में निहित होता है। बुद्धि के द्वारा दिव्यानन्द को अभिव्यक्ति नहीं मिल सकती। सौन्दर्य के अन्तःप्रेरित सर्जक के लिए आलोचनात्मक बुद्धि सीधे या स्वतंत्र रूप से कोई योग नहीं देती। यह सौन्दर्य के मूल्यांकन में भाग लेती है, तत्वों का विश्लेषण करती है। बुद्धि बाह्य प्रक्रियाओं का भी विश्लेषण कर सकती है लेकिन सौन्दर्य के उच्चतम और गभीरतम सत्य को ग्रहण करने में असफल रहती है। जिस प्रकार बुद्धि कोई ऐसी पद्धति, प्रक्रिया या नियम नहीं दे सकती जिससे सौन्दर्य का सर्जन होता है या होना चाहिए, उसी प्रकार सौन्दर्य के मूल्यांकन के लिए वैसी गभीर अन्तर्दृष्टि नहीं दे सकती जिसकी आवश्यकता होती है। सौन्दर्य के मूल्यांकन हेतु जिस चीज की आवश्यकता है, वह है एक विज़न, आत्मा में एक अन्तर्दर्शी प्रतिक्रिया।

श्री अरविन्द ने सौन्दर्य के विविध भेदों का उल्लेख किया है। संसार में केवल भौतिक सौन्दर्य ही नहीं है; भौतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य भी

---

19. "A complete and universal appreciation of beauty and the making entirely beautiful our whole life and being must surely be a necescary character of the perfect individual and perfect society."—Sri Aurobindo Birth Centenary Library, Vol. 15, Page 128.
20. Ibid, Page 128

है ।[21] वह सौन्दर्य के दो प्रमुख भेदों के विषय में लिखते हुए कहते हैं कि ये दो हैं—सार्वभौम (Universal) और सौन्दर्यबोधी (Aesthetic) । सार्वभौम सौन्दर्य अन्त: चक्षुओं से देखा जा सकता है, आंतरिक कानों से सुना जा सकता है। व्यक्तिगत चेतना कुछ रूपों के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती है, कुछ के प्रति नहीं। इसका कारण मानसिक, प्राणिक और शारीरिक क्षमताएं हैं । सौन्दर्यबोधी सौन्दर्य सामंजस्य (Harmony) के विशिष्ट मानक पर निर्भर करता है । विभिन्न जाति या व्यक्तिगत चेतना में सौन्दर्यबोधी सामंजस्य के विभिन्न मानदंड होते हैं।

श्री अरविन्द सौन्दर्य की खोज के तीन चरणों का भी उल्लेख करते हैं। प्रथम चरण में यह रूपाकार का सौन्दर्य है जो हमारी इन्द्रियों, प्राणिक प्रभावों, आवेगों और इच्छाओं को आकर्षित और संतुष्ट करता है । मध्य चरण में यह विचारों की पकड़, भावों की जाग्रति और संगतिपूर्ण सामंजस्य के बोध का सौन्दर्य है। इनके पीछे अंतिम चरण में वह सौन्दर्य की आत्मा है जो सब वस्तुओं में व्याप्त परिपूर्ण सौन्दर्य के आनन्द और प्रकाशन में निहित है । इसे इन्द्रियां और आवेग प्रदान नहीं कर सकते। यह इन्द्रियों से ऊपर, तर्कबुद्धि से ऊपर की वस्तु है। सौन्दर्य की इस आत्मा का स्पर्श पाने पर ही हमारी सौन्दर्य-भावना की पूर्ण संतुष्टि होती है ।[22]

महान कला केवल रूपात्मक सौन्दर्य (Formal Beauty) से संतुष्ट नहीं होती, इन्द्रियों और तर्क द्वारा लाये गये आनुपातिक सौन्दर्य से भी नहीं बल्कि यह तो सामान्य चक्षुओं और सामान्य मन को दिखाई न देने वाले सौन्दर्य की आत्मा का अन्वेषण करती है। कवि और कलाकार की अन्तर्दृष्टि ही इसे पूर्णरूपेण देखने में समर्थ हो सकती है।

सम्पूर्ण कला और कविता का लक्ष्य है पांच शाश्वत शक्तियों का सामंजस्य—सत्य (Truth), सौन्दर्य (Beauty), आनन्द (Delight), जीवन (Life) और

---

21. श्री अरविन्द के पत्र, पृष्ठ 301
'दि फ्यूचर पोयट्री' में श्री अरविन्द ने कीट्स के विषय में लिखते हुए सौन्दर्य के चार रूपों की चर्चा की है—Sensuous, Imaginative; Intellectual and Ideal. देखिये, पृष्ठ 185

22. When we get the touch of this "universal, absolute beauty, this soul of beauty, this sense of its revelation in any slightest or greatest thing, the beauty of a flower, a form, the beauty and power of a character, an action, an event, a human life, a stroke of the brush......it is then that the sense of beauty in us is really, powerfully, entirely satisfied." – Sri Aurobindo Birth Centenary Library, Vol. 15, Page 135.

आत्मा (Spirit) । इनको श्री अरविन्द ने कविता के पांच सूर्य कहा है।[23] इन शक्तियों में सौन्दर्य और आनन्द सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। ये अन्य तीन शक्तियों के माधुर्य, दीप्ति और वर्णच्छटा को भी बाहर खींच लाती हैं। सौन्दर्य और आनन्द कला और कविता की आत्मा और उद्गम हैं। कविता और कला का महत्वपूर्ण एवं आध्यात्मिक कार्य है कि वह मनुष्य को विशुद्ध आनन्दलोक में ले जायें और उसके जीवन में सौन्दर्य भर दें। श्री अरविन्द के शब्दों में, "आनन्द अस्तित्व की आत्मा है, सौन्दर्य आनन्द का तीक्ष्ण प्रभाव और घनीभूत रूप है और ये दो मूल वस्तुएं कलाकार और कवि के मन में एक हो जाने की ओर उन्मुख होती हैं, यद्यपि वे हमारे अनगढ प्राणिक और मानसिक अनुभव मे प्राय: काफी अलग अलग रहती हैं।"[24] और "कवि के लिए सौन्दर्य और आनन्द का चन्द्रमा सत्य के सूर्य या जीवन के प्रश्वास से भी बड़ा देवता है।"[25] श्री अरविन्द ने सौन्दर्य और आनन्द के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है कि "जिस दिन हम आनन्द और सौन्दर्य की पुरानी आराधना पर वापस पहुँचेंगे, वह हमारे मोक्ष का दिवस होगा, क्योंकि इन चीजों के बिना काव्य और कला में न तो निश्चित शालीनता और मधुरता हो सकती है, न जीवन की संतुष्ट गरिमा और भरपूरता, न ही आत्मा की सामजस्य-पूर्ण पूर्णता।"[26]

सौन्दर्य कोई सीमित वस्तु नहीं है। सब वस्तुओं में और सब अनुभवों के पीछे एक गंभीर आनन्द और सौन्दर्य निहित है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "तब कवि सुन्दर शब्द और मुहावरों के गढिया से ज्यादा कुछ होता है, फँसी और कल्पना का प्रिय शिशु, विचार या उक्ति का सतर्क शिल्पी या प्रभावी काव्य-विचारक, नैतिकतावादी, नाटककार या कथाकार; वह शाश्वत सौन्दर्य और आनन्द का वक्ता बन जाता है तथा उस उच्चतम एवं आत्माभिव्यंजक हर्षोन्माद में हिस्सा लेता है जो अस्तित्व को रचने वाले मौलिक उल्लास, दिव्य आनन्द के निकट है।"[27]

श्री अरविन्द का सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन केवल सौन्दर्य से सम्बधित नहीं है बल्कि सत्य—आध्यात्मिक विचार, आध्यात्मिक अनुभूति और आध्यात्मिक बोध के उच्चतर सत्य - से उसका सम्बन्ध है। अधिमानसिक चेतना में सत्य और सौन्दर्य एक साथ आते और चलते हैं। श्री अरविन्द की सर्वांगीण दृष्टि इन दोनों में भेद

---

23. "These are indeed the five greater ideal lamps or rather the five suns of poetry."—The Future Poetry, Page 286.
24. भावी कविता, पृष्ठ 248
25. भावी कविता, पृष्ठ 248
26. भावी कविता, पृष्ठ 250
27. भावी कविता, पृष्ठ 254

नहीं करती ।[28]

महान कला बाह्य सत्य के निरूपण से संतुष्ट नहीं होती, वह तो गहन और मूल सत्य · सौन्दर्य के सत्य— की खोज करती है । कवि हमें जो कुछ देता है, वह केवल सत्य का बौद्धिक या दार्शनिक विवरण नहीं होता बल्कि सत्य के सौन्दर्य और शक्ति का उसका विज़न होता है । वह जिस काव्य-सत्य को व्यक्त करता है, वह केवल बुद्धि का सत्य नहीं है, वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य नहीं है । ये सत्य तो कल्पना के शत्रु हैं । कविता हमें असीम, शाश्वत सत्य के दर्शन कराती है । श्री अरविन्द के शब्दों में, "काव्य का सत्य केवल दर्शन का सत्य या विज्ञान का सत्य या धर्म का सत्य नहीं है क्योंकि यह असीम सत्य की आत्माभिव्यंजना का दूसरा तरीका है. इतना विशिष्ट कि यह वस्तुओं को काफी दूसरा रूप प्रदान करता हुआ और अनुभव का काफी दूसरा पक्ष उद्घाटित करता हुआ प्रतीत होता है ।"[29] कवि किसी धर्म का अनुयायी या दर्शन का अनुगामी हो सकता है लेकिन यदि वह अपने इन विचारों को ही पद्यबद्ध करने लगे तो वह नियमभंग करता है क्योंकि कविता एक दूसरा ही मत और आराधना है । "जैसे ही वह (कवि) सरस्वती की वेदी के सामने खड़ा होता है, वैसे ही उसे अपने मन की पोशाक बदलनी पड़ती है और उसे एक भिन्न अभिषेक के अनुष्ठानों को पूरा करना पड़ता है । उसे अपने अन्दर से उस दूसरे व्यक्तित्व को बाहर लाना पड़ता है जो ज्यादा छटामयी पुतलियों वाली आंख से देखता है और ज्यादा हर्षोन्मत्त आवाज से बोलता है ।"[30] यह कवि की अन्तर्दृष्टि ही है जो सत्य को सौन्दर्य में रूपान्तरित कर देती है ।

\+ \+ \+ \+ \+

अन्तःप्रेरणा और विज़न की चर्चा किये बिना श्री अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्र का परिचय अधूरा रहेगा । पहले भी कहा जा चुका है कि चेतना के उच्चतर स्तरों का स्पष्ट बोध, जो अन्तःप्रेरणा के उद्गम हैं, श्री अरविन्द की वह मौलिक देन है जो उन्हें अन्य विचारकों से अलग खड़ा करती है । यद्यपि उन्होंने स्वय लिखा है कि ये ऐसे विषय हैं जिन पर लिखना कठिन है क्योंकि तर्क बुद्धि इससे संतुष्ट नहीं हो

---

28. "Truth is not merely a dry statement of facts or ideas to or by the intellect, it can be a splendid discovery, a rapturous revelation, a thing of beauty that is a joy for ever. The poet can be also a seeker and lover of truth as well as a seeker and lover of beauty. He can feel a poetic and aesthetic joy in the expression of the beautiful."—Letters of Sri Aurobindo (On Poetry and Literature), Third Series, PP. 127-128.
29. भावी कविता, पृष्ठ 223
30. भावी कविता, पृष्ठ 224.

सकेगी। कारण यह है कि जो अनुभव का विषय है, उसका विश्लेषण नहीं हो सकता।

श्री अरविन्द ने अन्त:प्रेरणा (Inspiration) को बहुत महत्त्व दिया है। उन्होंने यहां तक लिखा है कि अन्त:प्रेरणा के अभाव में काव्य का अस्तित्व नहीं है।[31] 'दि फ्यूचर पोयट्री' में ही नहीं, अपने पत्रों में उन्होंने अनेकत्र प्रेरणा की शक्ति और महत्त्व को स्वीकार किया है। उनके विचार से कविता अन्त:प्रेरणा, सौन्दर्य और आनन्द—इन तीन शक्तियों की सीधी पुकार पर अस्तित्व में आती है।[32]

अन्त:प्रेरणा कवि की सर्जनात्मक ऊर्जा है, जिसके बिना उसका काम नहीं चल सकता। श्री अरविन्द ने अपने एक पत्र में लिखा है कि "काव्य ही क्या, शायद सभी प्रकार की पूर्ण अभिव्यक्ति अन्त:प्रेरणा से प्राप्त होती है, अध्ययन से नहीं। ...मुझे दार्शनिक माना जाता है पर मैंने दर्शन का कभी अध्ययन नहीं किया। जो-जो भी चीज मैंने लिखी है, वह मुझे यौगिक अनुभव, ज्ञान तथा अन्त:प्रेरणा से प्राप्त हुई है। उसी प्रकार काव्य तथा पूर्ण भावप्रकाशन पर अधिक महान् अधिकार मुझे इन पिछले दिनों अधिगत हुआ है—दूसरे लोग कैसे लिखते हैं उसे उसे पढ़-समझ करके नहीं, वरन् अपनी चेतना को ऊँचा उठाकर और इस प्रकार से एक महत्तर अन्त:प्रेरणा प्राप्त करके।"[33]

श्री अरविन्द अन्त:प्रेरणा की शक्ति के विषय में किंचित् भी शंका नहीं करते लेकिन इसकी कार्य-प्रणाली रहस्यमय है। उन्होंने लिखा है कि अन्त:प्रेरणा बहुत अनिश्चित चीज है।[34] इस विषय में उन्होंने अपने अनुभव को व्यक्त किया है कि मैं मन के ऊपर से अन्त:प्रेरणा प्राप्त करता हूं तथा अनायास ही मस्तिष्क के श्रम के बिना परिवर्तन और शुद्धियाँ भी प्राप्त करता हूं। यदि मैं सौ बार भी कविता में परिवर्तन करूँ तो उसमें मस्तिष्क की सक्रियता नहीं होती, वह तो केवल प्राप्त

---

31. "Where there is no inspiration there can be no poetry." Letters of Sri Aurobindo (on Poetry and Literature), Third Series, Page 77.
32. "Poetry comes into being at the direct call of three powers, inspiration, beauty and delight, and brings them to us and us to them by the magic charm of the inspired rhythmic word. If it can do that at all perfectly, its essential work has been done."—The Future Poetry, pp. 3?3-4.
33. श्री अरविन्द के पत्र, पृष्ठ 324.
34. "Inspiration is always a very uncertain thing; it comes when it chooses, stops suddenly before it has finished its work, refuses to descend when it is called." Letters on Poetry, Literature and Art, Page 296.

करता है। मेरी कविताएं एक निर्झर की तरह प्रथम पंक्ति से अन्तिम शब्द तक आती हैं। कुछ कविताओं में एक दो परिवर्तन करने पड़ते हैं। दूसरी में सुधार की आवश्यकता तब होती है जब प्रथम अन्त:प्रेरणा निम्नकोटि की रही हो।[35] वह जहां एक ओर मन से ऊपर की अन्त:प्रेरणा के स्रोत की ओर संकेत करते हैं, वहां एक दूसरी सम्भावना भी सुझाते हैं। वह यह कि अन्त प्रेरणा चेतना के सामान्य स्तरों के भीतर से—आन्तरिक मन, प्राण आदि से आये जहां मन काव्य-शिल्प का अभ्यास करता है। ये सामान्य स्तर भी कम सुखद नहीं होते लेकिन यदि हम इनमें ही उलझ जायें तो हम ऊँचे शिखरों तक नहीं जा सकते। श्री अरविन्द ने अन्त:प्रेरणा के जिन नये स्रोतों का दर्शन कराया और उपरि-मन की चेतना के द्वार खोले, वे मौलिक चिन्तन का ही नहीं, गहरी साधना-का भी परिणाम हैं। अन्त:प्रेरणा की शक्ति के बिना उच्च कविता का सर्जन संभव नहीं है। यही शक्ति कवि और पद्यकार के बीच अन्तर स्पष्ट करती है।

कवि की चेतना से अन्त:प्रेरणा का सम्बन्ध होता है। यदि कवि को काव्य-सर्जन के लिए अन्त:प्रेरणा की उच्चतर शक्ति चाहिये तो उसे अपनी चेतना का विकास करना होगा। एक पत्र में श्री अरविन्द ने यह स्पष्ट किया है कि, "पहले अपनी चेतना को बढ़ने दो। जब चेतना विकसित हो जाये, अन्त:प्रेरणा की महत्तर शक्ति साधारण चेतना में से नहीं बल्कि यौगिक चेतना में से प्राप्त हो, तब यदि तुम लिख सको और यदि यह पता लग जाये कि शक्ति केवल सच्चे स्रोत से आती ही नहीं अपितु अपने लिये लयताल और भाषा में सच्ची प्रतिलिपि को भी ग्रथित करने में समर्थ है तो तुम लिखना जारी रख सकते हो।"[36]

श्री अरविन्द जैसे तत्त्ववेत्ता, जन्मजात कवि और योगी के लिए यह आश्चर्य-जनक नहीं है कि उन्होंने अन्त:प्रेरणा की शक्ति में पूर्ण विश्वास व्यक्त किया है। यह अन्त:प्रेरणा क्या है? श्री अरविन्द के शब्दों में, "अन्त:प्रेरणा से हमारा तात्पर्य यह है कि काव्यात्मक रचना और उक्ति की प्रेरणा साधारण मानसिकता के ऊपर एक अतिचेतन स्रोत से हम तक आती है, जिससे कि जो कुछ लिखा जाता है मस्तिष्क-मन की बुनावट नहीं प्रतीत होता, बल्कि ऊपर से प्रश्वसित या ढाली गई कोई अधिक परम वस्तु प्रतीत होता है।"[37] कलात्मक अन्त:प्रेरणा प्रकाश का निस्सरण है। श्री अरविन्द उन पाश्चात्य आलोचकों से अलग हैं जो अवचेतन या चेतन मन में ही कला-सर्जन के रहस्य को खोजते हैं। उन्होंने सामान्य मानसिकता से ऊपर के अनेक प्रदेशों के द्वार खोले हैं।[38] ये प्रदेश हैं—

35. देखिये—Savitri, Letters, Page 822.
36. श्री अरविन्द के पत्र, पृष्ठ 309.
37. भावी कविता, पृष्ठ 172.
38. विस्तृत अध्ययन के लिए 'The Life Divine' का 26 वां अध्याय 'The Ascent Towards Supermind' पठनीय है।

1. उच्चतर मन (Higher Mind)
2. आलोकित मन (Illumined Mind)
3. अन्तर्भासित मन (Intuitive Mind)
4. अधिमन (Overmind)

इनके बाद भी अतिमन (Supermind) है जो श्री अरविन्द की योग-साधना और दर्शन का चरम लक्ष्य है। अधिमन तक पहुंचना ही बहुत कठिन है तो फिर अतिमन के शिखर का स्पर्श तो और भी कठिन है। श्री अरविन्द ने एक पत्र में लिखा है कि, "परन्तु जबकि स्वय अधिमानस-प्रेरणा प्राप्त करना भी मनुष्य के लिए इतना दुर्लभ है तब भला अतिमानसिक प्रेरणा के यहां उतरने की तुम कैसे आशा करते हो? अधीर अभीप्सु सदा ही ऐसी भूल करता है। वह सोचता है कि मैं मध्यवर्ती अवस्थाओं में से गुजरे बिना अतिमानस को प्राप्त कर सकता हूं या वह समझता है कि मैंने इसे प्राप्त कर ही लिया है जबकि वास्तव में उसे ज्ञानदीप्त या स्फुरणात्मक या अधिक से अधिक एक प्रकार की मिश्रित अधिमानसिक चेतना से ही कोई चीज मिली होती है।"[39]

श्री अरविन्द ने एक पत्र में 'सावित्री' के लेखन के सन्दर्भ में अन्तःप्रेरणा की कार्य-प्रणाली के विषय में अपना निजी अनुभव व्यक्त किया है जब कवि शिल्प की चिन्ता नहीं करता और बिना रुकावट के अन्तःप्रेरणा को आने देता है।[40]

\+ \+ \+ \+

अब हमें विज़न (Vision) के विषय में विचार करना है। इसे हम अन्तर्दर्शन कह सकते हैं। समकालीन कला-विवेचन में या सौन्दर्यशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग नहीं मिलता लेकिन श्री अरविन्द के सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन में विज़न एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि, "विज़न कवि की

---

39. श्री अरविन्द के पत्र, पृष्ठ 320.
40. "I don't think about the technique because thinking is no longer in my line......I don't bother about details while writing because that would only hamper the inspiration. I let it come through without interference, only pausing if there is an obvious inadequacy felt, in which case I conclude that it is a wrong inspiration or inferior level that has cut across the communication. If the inspiration is the right one, then I have not to bother about the technique then or afterwards, for there comes through the perfect line with the perfect rhythm inextricably intertwined or rather fused into an inseparable and single unity."—Savitri, Letter, Page 824.

विशिष्ट क्षमता है जैसा कि विवेचनापूर्ण विचार दार्शनिक की अनिवार्य नैसर्गिक क्षमता और विश्लेषणात्मक निरीक्षण वैज्ञानिक की स्वाभाविक प्रतिभा।"[41] कवि का कार्य दार्शनिक और वैज्ञानिक से भिन्न है। उसका कार्य मुख्यतः वस्तु-विश्लेषण नहीं, तथ्य-चिन्तन नहीं बल्कि प्रकाश और छाया का, गति और स्थिरता का दृष्टि के वैभव में अनुभव करना है। हमारे पूर्वजों की दृष्टि में कवि दृष्टा और सत्य का उद्घाटक होता था। श्री अरविन्द ने भी कहा है कि कवि और कलाकार को हमें दिखाने का प्रयास करना चाहिए। विजन अन्तर्दृष्टि है। यह अन्तर्दृष्टि कवि के भीतर होनी चाहिए। तभी वह हमारे अन्दर इसे जगा सकेगा। श्री अरविन्द के शब्दों में, "दृष्टि अनिवार्य काव्य-गुण है।"[42] यह अन्तर्दृष्टि प्रकृति, जीवन और मनुष्य की हो सकती है। जिन कवियों के पास यह अन्तर्दृष्टि होती है, वे कविता की ऊंचाईयों तक पहुँचते हैं। श्री अरविन्द ने लिखा है कि "हम कह सकते हैं कि मूल विचारों के लोक में आदिरूप कवि एक आत्मा है जो इस लोक और अन्य लोकों तथा ईश्वर, प्रकृति एवं लोगों के जीवन को बड़ी आत्मीयता से देखती है और अपने केन्द्र से सर्जनात्मक लय तथा शब्दबिम्बों की एक तरंग का वह स्रोत खोल देती है जो विजन की अभिव्यजनात्मक देह बनता है; महान कवि वे हैं जो कुछ अंश में इस आदर्श सर्जना को दुहराते हैं, कवयः सत्यश्रुताः, काव्य-सत्य और काव्य-शब्द के दृष्टा और श्रोता।"[43] कवि पैगम्बर की तरह सत्य की घोषणा नहीं करता। वह दार्शनिक की तरह सत्य के अंशों या पार्श्वों को एक दूसरे के बौद्धिक सम्बन्ध में नहीं रखता। कवि-ऋषि तो अलग ही ढंग से देखता और सोचता है।[44] श्री अरविन्द के शब्दों में, "जीवन का काव्यात्मक विज़न उसकी आलोचनात्मक या बौद्धिक या दार्शनिक दृष्टि नहीं है बल्कि एक आत्मन्-दृष्टि है, अन्तर्बोध के द्वारा पकड़ है।"[45]

यह अन्तर्दृष्टि बाह्य दर्शन से भिन्न है क्योंकि कवि अपने अन्दर से रचता

---

41. भावी कविता, पृष्ठ 29
42. भावी कविता, पृष्ठ 30
"Sight is the essential poetic gift."
43. भावी कविता; पृष्ठ 30.
44. "The poet shows us Truth in its power of beauty, in its symbol or image, or reveals it to us in a workings of Nature or in the workings of life, and when he has done that, his whole work is done; he need not be its explicit spokesman."—The Future Poetry, Page 43.
45. भावी कविता, पृष्ठ 34

है। बाह्य दर्शन तो मात्र सहायक हो सकता है।[46] श्री अरविन्द काव्यात्मक विज़न के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह कहते हैं कि युग और वातावरण के साथ, मानव-मन के आरोहण के साथ यह विज़न बदलता रहता है। श्री अरविन्द के शब्दों में, "एक उच्चतर स्तर तब आता है जब मानव का मन जीवन के पीछे की शक्तियों को, हमारे आभ्यंतरिक अस्तित्व द्वारा छिपाई गई शक्तियों को ज्यादा निकटता से देखना शुरू करता है और कवि उन्हें ज्यादा सीधे ढग से उद्घाटित करने की प्रचेष्टा कर पाता है या कम से कम, बाह्य भौतिक प्राणिक और वैचारिक प्रतीकों को वृहत्तर वस्तुओं की केवल एक व्यजना के रूप में इस्तेमाल कर पाता है।"[47] अत: शब्द और लय ही नहीं विज़न की तीव्रता भी कवि के लिए अनिवार्य है।[48] और यह तीव्रता कवि की अन्तदर्शन की वैयक्तिक क्षमता पर हीं निर्भर नहीं होती बल्कि उसके युग और देश की मानसिक स्थिति पर, विचार और अनुभव के स्तर पर, प्रतीकों की उपयुक्तता पर, आध्यात्मिक उपलब्धि की गहनता पर निर्भर होती है।

काव्य-सर्जना की प्रक्रिया के विषय में श्री अरविन्द के विचार उनके पत्रों में इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं। श्री एस० के० प्रसाद ने इन विचारों को दिशा-बोधक माना है।[49] श्री अरविन्द के अनुसार काव्य-सर्जन के तीन तत्त्व हैं—

---

46. "..... the poet really creates out of himself and not out of what he sees outwardly : that outward seeing only serves to excite the inner vision to its work. Otherwise his work would be a mechanical construction and putting together, not a living creation."—The Future Poetry, Page 47.
47. भावी कविता, पृष्ठ 36
48 "Therefore it is not sufficient for poetry to attain high intensities of word and rhythm ; it must have, to fill them, an answering intensity of vision"—The Future Poetry, Page 50.
49. "When, however, we read Sri Aurobindo's views on this point we not only breathe a purer and clearer air of understanding and feel greater aesthetic and critical satisfaction but also find ourselves on surer and more revealing and illuminated grounds of observation from which to proceed on the right and progressively ascending lines. On the contrary, the Freudians and the Marxists can ultimately lead us but to a blind alley."—The Literary Criticism of Sri Aurobindo, Page 297.

1. अन्तःप्रेरणा का मूलस्रोत।
2. सर्जन सौन्दर्य की प्राणिक शक्ति, जो अपना सारतत्त्व तथा वेग प्रदान कर आकार निर्धारित करती है।
3. कवि की संचारक बहिष्चेतना।[50]

"जब मूलस्रोत अपनी अन्तःप्रेरणा को प्राण के अन्दर शुद्ध तथा अविकृत रूप में ढारने में समर्थ होता है और वहां काव्य अन्तःप्रेरणा को ठीक-ठीक प्रतिमूर्त करने वाली वाणी का सच्चा स्वाभाविक रूप और ओज ग्रहण करता है और साथ ही बहिश्चेतना, पूर्णतः निष्क्रिय रहकर, गृहीत वस्तु को बिना बदले आगे भेजती है, तभी काव्य-रचना अत्यन्त विशुद्ध और उत्कृष्ट होती है।"[51]

अन्तःप्रेरणा के विवेचन में काव्य-सर्जन की प्रक्रिया के विषय में संकेत किया जा चुका है। श्री अरविन्द का तात्पर्य यह कहीं नहीं है कि कवि सुस्त बैठा रहे और अन्तःप्रेरणा के प्रवाह की प्रतीक्षा करता रहे। उसे चौकस और तत्पर रहना चाहिए जिससे अन्तःप्रेरणा की पुकार का उत्तर दे सके। श्री अरविन्द के निम्न कथन काव्य-सर्जन-प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण आलेख हैं -

(क) "निस्संदेह, जो लोग सावधान, आत्म-समीक्षक तथा पूर्णता के लिए उत्कंठित होते है उनमें सरस्वती का प्रवाह रुक रुककर ही बहता है। परन्तु जो लोग इस बात की परवाह नहीं करते कि वे क्या लिखते हैं और अपनी रचना के सफल निर्वाह का कार्य अपनी प्रतिभा, ओज या प्रवाहशीलता के भरोसे छोड़ देते हैं, वे प्रायः अनर्गल लेखक होते हैं।"[52]

(ख) "विरले ही कवि सर्वोच्च अन्तःप्रेरणा के स्तर को चिरकाल तक एक समान सुरक्षित रख पाते हैं। श्रेष्ठ काव्य सर्वोच्च कोटि के कवियों के सिवा औरों में साधारणतः धाराओं के रूप में नहीं आता, भले ही और कवि पर्याप्त ऊँचाई पर देर तक उड़ानें क्यों न लेते रहें। सर्वोत्कृष्ट काव्य कुछ कुछ समय बाद बूँद-बूँद करके आता है, चाहे कभी-कभी तीन-चार चमकीली बूंदें एक साथ भी टपक पड़ती हैं।"[53]

अन्तःप्रेरणा, विज़न और सर्जन-प्रक्रिया के विषय में श्री अरविन्द का चिन्तन मौलिक है और समस्या के मूल तक जाकर समाधान खोजता है।

---

50. श्री अरव्रिन्द के पत्र, पृष्ठ 306
51. श्री अरविन्द के पत्र, पृष्ठ 306
52, श्री अरगिन्द के पत्र, पृष्ठ 310
53. श्री अरगिन्द के पत्र, पृष्ठ 310—11

मंत्र के बारे में संक्षिप्त परिचय देकर मैं यह निबन्ध समाप्त करूंगी। 'भावी कविता' में श्री अरविन्द ने एक मूल प्रश्न उठाया है कि "वह कौन सी सर्वोच्च शक्ति है जिसकी हम काव्य से मांग करते हैं,—अथवा हम इसे अधिक व्यापक रूप से कहें और विषय के मूल के निकट पहुंचें, —काव्य की प्रकृति, उसका अनिवार्य विधान क्या हो सकता है और किस तरह उसमें से सत्य के मंत्र रूप में काव्य के प्रयुक्त होने की संभावना उठती है।"[54] सत्य (Real) का मंत्र होना काव्य की उच्चतम उपलब्धि है। मंत्र क्या है ? श्री अरविन्द के शब्दों में, "मंत्र, जो गहनतम आध्यात्मिक वास्तविकता की काव्यात्मक अभिव्यंजना है, तभी संभव होता है जब काव्यात्मक वाणी की तीन उच्चतम तीव्रताएं मिलती और नीर-क्षीरवत् एक हो जाती हैं—लयात्मक गति की उच्चतम तीव्रता; शब्द रूप, विचारतत्त्व, शैली की उच्चतम तीव्रता और आत्मा की सत्य-दृष्टि की उच्चतम तीव्रता।"[55]

मंत्र का जैसा विवेचन श्री अरविन्द ने किया है, वैसा संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में भी कहीं नहीं मिलता। श्री अरविन्द ने लिखा है कि—

(अ) "मंत्र हृदय के बीच से उत्पन्न होता है और शाश्वत के उस देवरूप के रथ में विचारशील मन द्वारा आकार प्रदान किया जाता या संपुंजित किया जाता है जिस देवरूप का देखा हुआ सत्य एक मुखड़ा या आकार है।"[56]

(आ) "परन्तु काव्य मंत्र तब होता है जब वह अंतरतम सत्य की आवाज होता है और उस सत्य के निजी लय और वाणी की उच्चतम शक्ति में साधा जाता है।" [57]

(इ) "दूसरे शब्दों में, मंत्र प्रत्यक्ष और सबसे उन्नीत, तीव्रतम और सबसे दिव्यतः ऊर्जायित लयात्मक शब्द है जो संबोधिजन्य और साक्षात् दृष्टिपरक श्रुति को मूर्तिमान करता है और मन को वस्तुओं के बिल्कुल निजी रूप, उनकी अन्तरतम वास्तविकता की दृष्टि और उपस्थिति से, और उस वास्तविकता के सत्य तथा उसके दिव्य आत्मन्-रूपों, वे देवगण जो जीवन्त सत्य से उत्पन्न होते हैं, के द्वारा मन को आत्मा से घेर लेता है। अथवा, कहा जाय, यह एक परम लयात्मक भाषा है जो सारी सीमित वस्तुओं पर अधिकार कर लेती है ओर प्रत्येक में अपने निजी असीम का प्रकाश और वाणी ले आती है।"[58]

(ई) "····· मंत्र वह है जो अधिमानसिक अन्तःप्रेरणा से प्राप्त होता है। ······इसकी विशेषताएं ये होती हैं कि इसकी भाषा में शब्दों से सूचित निरे स्थूल

54. भावी कविता, पृष्ठ 9
55. भावी कविता, पृष्ठ 17
56. भावी कविता, पृष्ठ 211
57. भावी कविता, पृष्ठ 211
58. भावी कविता, पृष्ठ 211

अर्थ की अपेक्षा भाव अनन्तगुना निहित होता है, इसकी लय भाषा की अपेक्षा भी अधिक अर्थगर्भित होती है और वह अनन्त में से उद्भूत होती है तथा अनन्त में ही लीन हो जाती है। इसमें ऐसी शक्ति होती है कि यह जिस चीज का वर्णन करता है उसके कुछ मानसिक, प्राणिक या भौतिक अर्थों या संकेतों या मूल्यों का ही बोध नहीं करता अपितु इन सबके पीछे अवस्थित किसी मूल आदिचेतना में इनका जो मूल्य एवं आकार है उसका भी ज्ञान कराता है।"[59]

इन उद्धरणों से मंत्र काव्य के स्वरूप की मात्र झलक मिलती है। इसका विस्तृत विवेचन अलग निबन्ध का विषय है।

निष्कर्षत: श्री अरविन्द का सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्तन जिज्ञासा के नवीन द्वार ही नहीं खोलता, उनके तर्कसंगत समाधान भी प्रस्तुत करता है। सौन्दर्य और सौन्दर्य बोध, काव्य-सत्य, अन्त:प्रेरणा और उसके स्रोत, विजन, काव्य-सर्जन की प्रक्रिया तथा कला-समीक्षा के आध्यात्मिक आरोहरण और मूल्यों की खोज के विषय में श्री अरविन्द ने जो मौलिक स्थापनाएं की हैं, वे हमें इस समय वायवी और काल्पनिक भी लग सकती हैं लेकिन सच यह है कि इन्हीं पर भविष्य के सौन्दर्य-शास्त्र का प्रासाद निर्मित होगा।

—अध्यक्ष, अंगरेजी विभाग
एम. एल. जे. एन. के. गर्ल्स कालेज
सहारनपुर–247001

59. श्री अरबिन्द के पत्र, पृष्ठ 320

छायावाद सन्दर्भ

●

डा० सुरेश चन्द्र त्यागी

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में छायावाद और उसके कवियों पर, और उनमें भी प्रसाद और विशेषत: उनकी 'कामायनी' पर, शोध और समीक्षा के सर्वाधिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में हुए और हो रहे शोध विषयों की सूची बने तो ज्ञात हो कि जितने दृष्टिकोणों से 'छायावाद' पर कार्य हुआ और हो रहा है, उतने दृष्टिकोणों में किसी अन्य काव्य-प्रवृत्ति पर नहीं। यह तथ्य जहां एक ओर इस युग को काव्य-वैभव की दृष्टि से शीर्ष पर प्रतिष्ठित करता है, वहीं दूसरी ओर और अधिक संभावनाओं के द्वार भी खोलता है। शोध-कार्य करने के इच्छुक जिज्ञासुओं के लिये 'छायावाद' पर प्रकाशित ग्रन्थों की यह विवरणिका प्रस्तुत है।

इसमें ग्रन्थ का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम-पता और प्रथम संस्करण का प्रकाशन वर्ष दिया गया है। जिस ग्रन्थ में प्र० स० का प्रकाशन-वर्ष लिखा नहीं मिला, उसके विवरण में नहीं दिया जा सका है।

छायावाद

1 छायावाद—उत्थान, पतन, पुनर्मूल्यांकन। देवराज; कल्पकार प्रकाशन, 52, बादशाहनगर, लखनऊ-6; प्र० स० अक्तूबर 1975

2 छायावादी काव्य में सौन्दर्य दर्शन : सुरेश चन्द्र त्यागी, शोध प्रबन्ध (आगरा) अनुराधा प्रकाशन, फूलबाग कालोनी, सूरजकुंड, मेरठ; प्र० सं० 1976

3 छायावादी काव्य : कृष्णचन्द्र वर्मा; मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल; प्र० सं० 1972

4 छायावादयुगीन स्मृतियां : रामनाथ 'सुमन'; दि मैकमिलन कंपनी आफ इन्डिया लिमिटेड; प्र० सं० 1975

5 छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन : कुमार विमल; शोध प्रबन्ध (पटना), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6; प्र० स० 1970

6 काव्य बिम्ब और छायावाद : सुरेन्द्र माथुर; ज्ञान भारती प्रकाशन, सी-8 माडल टाउन, दिल्ली–9; प्र० सं० 1969

7 छायावाद का काव्य-शिल्प : प्रतिमा कृष्णबल; शोध प्रबन्ध (दिल्ली); राधाकृष्ण प्रकाशन, अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली-6; प्र० सं० 1971

8 छायावाद की प्रासंगिकता : रमेशचन्द्र शाह; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1973

9 छायावाद : उदयभानु सिंह (सम्पादक ; सामयिक प्रकाशन, दिल्ली-6

10 छायावाद : रवीन्द्र भ्रमर; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्र० सं० 1971

11 छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना : रवीन्द्रनाथ दरगन; वाणी प्रकाशन, दिल्ली-7; प्र० स० 1973

12 छायावाद – विश्लेषण और मूल्यांकन : दीनानाथ शरण; नवयुग ग्रन्थागार, महानगर, लखनऊ-6

13 छायावाद युग : शभुनाथ सिंह; सरस्वती मंदिर, जतनबर, वाराणसी, प्र० सं० 1952

14 हिन्दी की छायावादी कविता का कला विधान : बलबीर सिंह 'रत्न'; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-7, प्र० सं० अक्तूबर 1964

15 स्वच्छन्दतावाद एवं छायावाद का तुलनात्मक अध्ययन : शिवकरण सिंह; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1965

16 छायावाद –स्वरूप और व्याख्या : राजेश्व दयाल सक्सेना; अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर

17 छायावाद – काव्य तथा दर्शन : हरनारायण सिंह; शोध प्रबन्ध (लखनऊ); ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, प्र० स० नवम्बर 1964

18 छायावादी काव्य में लोक मंगल की भावना; अम्बादत्त पांडेय, शोध प्रबन्ध (मेरठ); प्रेम प्रकाशन मंदिर, दिल्ली; प्र० सं० 1973

19 छायावाद—पुनर्मूल्यांकन : सुमित्रानन्दन पंत; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 20 मई 1965

20 छायावादी कवियों का सौन्दर्य-विधान : सूर्य प्रसाद दीक्षित; दि मैकमिलन कम्पनी आफ इन्डिया लिमिटेड; प्र० सं० 1974

21 छायावादी काव्य और निराला: शान्ति श्रीवास्तव; शोध प्रबन्ध (काशी ; ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर; प्र० सं० अक्तूबर 1966

22 छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना : संतोष कुमार तिवारी; शोध प्रबन्ध (सागर); भारतीय ग्रन्थ निकेतन, दिल्ली; प्र० स० 1974

23 छायावादी कवियों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण: प्रमोद सिन्हा; लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1973

24 छायावादी काव्य दर्शन : जे० रामचन्द्रन नायर; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1976

25 छायावाद और वैदिक दर्शन : प्रेम प्रकाश रस्तोगी; आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली-7; प्र० सं० मई 1971

26 छायावाद और रहस्यवाद : गंगा प्रसाद पांडेय; सेतु प्रकाशन, झांसी

27 स्वच्छन्दतावाद—छायावाद : अजबसिंह; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; प्र० सं० 1975

28 छायावादी काव्य में उदात्त तत्त्व : कमलेश वोहरा; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; प्र० सं० 1975

29 छायावाद का पतन : देवराज; वाणी मंदिर प्रेस, छपरा; प्र० सं० अप्रैल 1948

30 छायावाद की काव्य-साधना : क्षेम; साहित्य-ग्रंथ माला कार्यालय, जालिपादेवी, काशी; प्र० सं० संवत् 2011

31 छायावाद और रहस्यवाद का रहस्य : धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, छंगालाल मालवीय, कामेश्वर शर्मा (सम्पादक); राज प्रकाशन, मछुआ टोली, पटना-4; प्र० सं० 1955

32 छायावाद : प्रताप साहित्यालंकार; गंगा ग्रंथागार, 36 गौतम बुद्ध मार्ग, लखनऊ; प्र० सं० 1951

33 छायावाद : रामरतन भटनागर; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1947

34 छायावादी काव्य – एक दृष्टि : चौथीराम यादव, किताब महल; इलाहाबाद, प्र० सं० 1971

35 छायावादी कवियों की आलोचनात्मक दृष्टि : विजय मोहन सिंह; नारायण प्रकाशन मन्दिर, कमच्छा, वाराणसी-1; प्र० स० अगस्त 1960

36 छायावाद – प्रकृति और प्रयोग : कमला प्रसाद पांडेय; साहित्यवाणी, इलाहाबाद-3; प्र० सं० 1972

37 छायावादी कवियों की गीत सृष्टि : उपेन्द्र; युगवाणी प्रकाशन, 107/66 जवाहर नगर, कानपुर

38 छायावादी कवियों पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों का प्रभाव: फूल बिहारी शर्मा; शोध प्रबन्ध (अलीगढ़); राजेश प्रकाशन, कृष्ण नगर, दिल्ली; प्र० सं० 26 जनवरी 1977

39 हिन्दी स्वच्छन्दतावादी काव्य : प्रेमशंकर; मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल; प्र० सं० 1974

40 छायावादी काव्य में बिम्ब-विधान : कृष्णकान्त शर्मा; शोध प्रबन्ध (आगरा); लोकवाणी प्रकाशन, दिल्ली-31; प्र० सं० दिसम्बर 1977

41 छायावादी कवियों का आलोचना साहित्य : शीला व्यास; शोध प्रबन्ध (इन्दौर); हिन्दी प्रचारक संस्थान, पिशाचमोचन, वाराणसी; प्र० सं० 1977

जयशंकर प्रसाद

1 प्रसाद के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन : सुरेन्द्रनाथ सिंह; शोध प्रबन्ध (लखनऊ) राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली—6; प्र० स० 1972

2 प्रसाद-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : प्रेमदत्त शर्मा; शोध प्रबन्ध (राजस्थान); जयपुर पुस्तक सदन, चोड़ा रास्ता, जयपुर; प्र० सं० दिसम्बर 1968

3 प्रसाद साहित्य कोश : हरदेव बाहरी; भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; प्र० सं० सम्वत् 2014 वि०

4 जयशंकर प्रसाद का कामायनी-पूर्व काव्य : शांतिस्वरूप गुप्त; एस० ई० एस० एँड कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली–6; प्र० सं० मार्च 1970

5 प्रसाद का जीवन-दर्शन, कला और कृतित्व : महावीर अधिकारी (सम्पादक); आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली–6; प्र० सं० 1955

6 प्रसाद की काव्य प्रवृत्ति : कामेश्वर प्रसाद सिंह; अनुसन्धान प्रकाशन; आचार्यनगर, कानपुर; प्र० सं० 1966

7 जयशंकर प्रसाद—वस्तु और कला : रामेश्वर लाल खंडेलवाल; शोधप्रबन्ध (आगरा); नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली; प्र० सं० जुलाई 1968

8 कवि प्रसाद : भोलानाथ तिवारी; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1958

9 प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन : किशोरी लाल गुप्त; साहित्यरत्नमाला कार्यालय, 20 धर्मकूप, बनारस; प्र० सं० माघ 2009

10 प्रसाद साहित्य में मनोभावों के स्वरूप : इन्दुप्रभा पाराशर; शोध प्रबन्ध (लखनऊ); प्र० सं० 23 दिसम्बर 1970

11 प्रसाद का सौन्दर्य दर्शन : वीणा माथुर; शोध प्रबन्ध (राजस्थान); बाफना प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर; प्र० सं० 1971-72

12 प्रसाद प्रतिभा : इन्द्रनाथ मदान (सम्पादक); नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; प्र० सं० 1971

13 प्रसाद और उनका काव्य : गंगाप्रसाद पांडेय; लिपि प्रकाशन, ई 5/20 कृष्णनगर, दिल्ली–51; प्र० सं० अक्तूबर 1971

14 प्रसाद काव्य कोश : सुधाकर पांडेय; हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी

15 प्रसाद दर्शन : द्वारिका प्रसाद सक्सेना; शोधप्रबन्ध (आगरा); विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा; प्र० सं० 1969

16 प्रसाद की कविताएं : सुधाकर पांडेय; आराधना प्रकाशन, गोला दीनानाथ, वाराणसी; प्र० सं० 1958

17 पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण : दिनकर; उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना–4; प्र० सं० जुलाई 1958

18 प्रसाद का काव्य : प्रेमशंकर; भारती भंडार, इलाहाबाद; प्र० सं० सम्वत् 2012 वि०

19 प्रसाद : निर्मल तालवार (सम्पादक); बंगीय हिन्दी परिषद्, 15 बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता; प्र० सं० महाशिवरात्रि 2020

20 प्रसाद एवं पंत का तुलनात्मक विवेचन : रामरजपाल द्विवेदी; सरस्वती पुस्तक सदन, मोती कटरा, आगरा: प्र० सं० संवत् 2014 वि०

21 जयशंकर प्रसाद (चिन्तन व कला) : इन्द्रनाथ मदान (सम्पादक); हिन्दी भवन, 312 रानी मंडी, इलाहाबाद–3; प्र० सं० 1956

22 प्रसाद काव्य विवेचन : हरदेव बाहरी; अरविंद प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1958

23 प्रसादजी की कला : गुलाबराय; साहित्य रत्न भंडार, आगरा

24 प्रसाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि : जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव; पुस्तक संस्थान 109/50 ए नेहरू नगर, कानपुर–12; प्र० सं० मार्च 1973

25 महाकवि प्रसाद और लहर : गोविन्दलाल छाबड़ा; आदर्श साहित्य प्रकाशन, वैस्ट सलिमपुर, दिल्ली–31; प्र० सं० 1973

26 प्रसाद का पूर्ववर्ती काव्य : उषा मिश्र; साहित्य भवन प्राइवेट लिमि०; इलाहाबाद–3; प्र० सं० 1970

27 वृहत्त्रयी : विजय बहादुर सिंह; दि मैकमिलन कम्पनी आफ इन्डिया लिमिटेड; प्र० सं० 1975

28 त्रयी : जानकीवल्लभ शास्त्री; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1970

29 प्रसाद और आँसू : राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी; प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

30 प्रसाद के प्रगीत : गणेश खरे; नन्द किशोर एड संस, चौक, वाराणसी; प्र० सं० नवंबर 1960

31 महाकवि प्रसाद : विजयेन्द्र स्नातक एवं रामेश्वरलाल खंडेलवाल; भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली; प्र० सं० 1958

32 कवि प्रसाद — आँसू तथा अन्य कृतियां : विनयमोहन शर्मा; प्रतिभा प्रकाशन लिमिटेड, वर्धा रोड, नागपुर

33 कवि प्रसाद की काव्य-साधना : रामनाथ सुमन; छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग

34 युगप्रवर्तक जयशंकर प्रसाद; प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार; प्र० सं० जून 1966

35 प्रसाद-साहित्य और समीक्षा : रामरतन भटनागर; साहित्य प्रकाशन, मालीवाड़ा, दिल्ली; प्र० सं० 1958

36 कवि प्रसाद : रामरतन भटनागर; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1946

37 प्रसाद-साहित्य में आदर्शवाद एवं नैतिक दर्शन : आचार्य उमेश शास्त्री; देवनगर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर–3

38 लहर-सौन्दर्य : सत्यवीर सिंह खत्री; सन्मार्ग प्रकाशन, 16 यू० बी०, बंग्लो रोड, दिल्ली; प्र० सं० 1977

39 प्रसाद-काव्य मे भाव-व्यंजना - मनोवैज्ञानिक विवेचन : धर्मप्रकाश अग्रवाल; शोध प्रबन्ध (मेरठ); अनुराधा प्रकाशन, फूलबाग कालोनी, सूरजकुंड, मेरठ; प्र० सं० मार्च 1978

40 प्रसाद का मुक्तक काव्य : द्वारिकाप्रसाद सक्सेना; कोणार्क प्रकाशन, कमला नगर, दिल्ली; प्र० सं० 1978

41 प्रसाद-साहित्य मे उदात्त तत्व : सोरनसिंह शास्त्री; शोध-प्रबन्ध (मेरठ); लोकवाणी प्रकाशन, डी–15 कृष्णानगर, दिल्ली–51; प्र० सं० 1978

42 लहर-समीक्षा : द्वारिका प्रसाद सक्सेना; वाणी प्रकाशन, 61–एफ कमला-नगर, दिल्ली–7; प्र० सं० 1976

43 प्रसाद की विचारधारा : दिनेश्वर प्रसाद; शोध-प्रबन्ध (रांची) अनुपम प्रकाशन, पटना–6, प्र० सं० 1977

44 आंसू-भाष्य : द्वारिका प्रसाद सक्सेना; विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा; प्र० सं० 1971

45 काव्य-बिम्ब और कामायनी की बिम्ब योजना : धर्मशीला भुवालका; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; प्र० सं० 1977

46 काश्मीर शैव दर्शन और कामायनी : भंवरलाल जोशी; शोध प्रबन्ध (राजस्थान); चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी; प्र० सं० 1968

47 कामायनी का नया अन्वेषण : रामगोपाल शर्मा 'दिनेश', चिन्मय प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-3; प्र० सं० 1970

48 कामायनी भाष्य : द्वारिका प्रसाद सक्सेना; विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा-

49 कामायनी —चिन्तन - अनुचिन्तन : शिवशंकर प्रसाद वर्मा; सजय प्रकाशन, 18 रिंग रोड, लाजपतनगर, नई दिल्ली; प्र० सं० 1973

50 कामायनी सौन्दर्य : फतहसिंह; भारती भंडार, इलाहाबाद

51 कामायनी एक नवीन दृष्टि : रमेशचन्द्र गुप्त; जीवन ज्योति प्रकाशन, 3012 बल्लीमारान, दिल्ली-6; प्र० सं० 1971

52 कामायनी दिग्दर्शन : केदारनाथ द्विवेदी 'यतीन्द्र'; दी स्टूडेन्ट्स बुक कम्पनी, ग्वालियर; प्र० सं० 1964

53 कामायनी की परख : देवदत्त कौशिक; समालका पब्लीकेशन्स, 7 यू० बी०, बंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली-7; प्र० सं० नवम्बर 1968

54 प्रसाद की कामायनी : मुंशीराम शर्मा; ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर; प्र० सं० नवम्बर 1970

55 कामायनी : कल्याणमल लोढा (सम्पादक); राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली; प्र० सं० 1976

56 कामायनी : राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी; रतन प्रकाशन मन्दिर, राजामंडी, आगरा; प्र० सं० 1958

57 कामायनी : रामरतन भटनागर; किताब महल इलाहाबाद; प्र० सं० 1947

58 कामायनी मीमांसा : प्रेमनारायण टंडन (सम्पादक); रामप्रसाद एंड संस, आगरा; प्र० सं० 1945

59 कामायनी दर्शन : कन्हैयालाल सहल एवं विजयेन्द्र स्नातक; आत्माराम एंड संस, दिल्ली-6; प्र० सं० 1953

60 कामायनी के पन्ने : भुवनचन्द्र पांडेय; नवयुग ग्रन्थागार, सी-747, महानगर, लखनऊ; प्र० सं० नवम्बर 1962

61 कामायनी-एक यूतोपिया : सुरेश गौतम; राजेश प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली-51; प्र० सं० श्रावणी 1978

62 कामायनी-रहस्य : विजय बहादुर सिंह राठौर 'विजय'; इन्डियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद; 1963

63 कामायनी का विवेचन : व्रजभूषण शर्मा; इंडियन प्रेस (पब्लिकेशन्स) प्राइवेट लिमिटेड, प्रयाग; प्र० सं० 1958

64 कामायनी (मूल्यांकन और मूल्यांकन) : इन्द्रनाथ मदान (सम्पादक); नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1969

65 कामायनी के अध्ययन की समस्याएं : नगेन्द्र; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

66 कामायनी में प्रतीक विधान : चित्रा शर्मा; पंचशील प्रकाशन, जयपुर-3; प्र० सं० 1972

67 प्रसाद और कामायनी : राजकुमार शर्मा; पदम बुक कम्पनी, जयपुर

68 कामायनी पर्यालोचन : लालधर त्रिपाठी प्रवासी; हिन्दी प्रचारक प्रतिष्ठान, आदि विश्वनाथ, वाराणसी; प्र० सं० संवत् 2027 वि०

69 कामायनी अनुशीलन : रामलाल सिंह; इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग; प्र० सं० 1950

70 कामायनी का प्रतिपाद्य—मनोवैज्ञानिक विश्लेषण : जगदीश प्रसाद शर्मा; चिन्मय प्रकाशन, चौडा रास्ता, जयपुर-3

71 कामायनी पर वैदिक साहित्य का प्रभाव : कर्णसिंह वर्मा; शोध प्रबन्ध (आगरा); आदर्श साहित्य प्रकाशन, 126/6 वैस्ट सीलमपुर, दिल्ली-31; प्र० सं० सितम्बर 1972

72 कामायनी का प्रवृत्तिमूलक अध्ययन : कामेश्वर प्रसाद सिंह; अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर; प्र० सं० 1965

73 मिथक और स्वप्न—कामायनी की मनस्सौन्दर्य सामाजिक भूमिका : रमेश कुन्तल मेघ; ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर; प्र० सं० 1967

74 कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना : विश्वनाथ लाल शैदा; हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी; प्र० सं० 1959

75 कामायनी का पुनर्मूल्यांकन : रामस्वरूप चतुर्वेदी; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1970

76 कामायनी विमर्श : भगीरथ दीक्षित; समुदय प्रकाशन, 594 उन्नीसवां रास्ता, खार, बम्बई–52; प्र० सं० जनवरी 1965

77 कामायनी में अलंकार योजना : विनोद दीक्षित; प्रतिभा प्रकाशन, व्यास भवन, नाहरगढ़ रोड, जयपुर; प्र० सं० बसन्त पंचमी 1975

78 कामायनी दर्शन : प्रताप चन्द जैसवाल (सम्पादक); सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा; प्र० सं० 1967

79 कामायनी की पारिभाषिक शब्दावली : वेदज्ञ आर्य; शोध प्रबन्ध (दिल्ली); इकाई प्रकाशन, 16 पुरुषोत्तमनगर, इलाहाबाद, प्र० सं० 1968

80 कामायनी पर काश्मीरी शैव दर्शन का प्रभाव : राजकुमार गुप्त; राजेश प्रकाशन, कृष्णनगर, दिल्ली; प्र० सं० विजयदशमी 2033

81 कामायनी का आनन्दवाद : नीलमणि उपाध्याय; जयपुर पुस्तक सदन, चौड़ा रास्ता जयपुर; प्र० सं० जुलाई 1977

82 कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन : द्वारिकाप्रसाद सक्सेना; शोध-प्रबन्ध (आगरा); विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा

निराला

1 निराला : पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' (सम्पादक); राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली–6; प्र० सं० 1969

2 काव्य का देवता निराला : विश्वभंर मानव; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1963

3 निराला काव्य का अध्ययन : भगीरथ मिश्र; राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1967

4 निराला का साहित्य और साधना : विश्वंभरनाथ उपाध्याय; विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

5 महाकवि निराला – काव्य कला और कृतियां : विश्वंभरनाथ उपाध्याय; सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा; प्र० सं० 1953

6 कवि निराला : नंददुलारे वाजपेयी; वाणी-वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी; प्र० सं० 1965

7 महाप्राण निराला : गंगाप्रसाद पांडेय; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

8 निराला और उनका काव्य : गंगाप्रसाद पांडेय; लिपि प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1971

9 निराला-काव्य-कोश : जयनाथ नलिन; आलोक प्रकाशन, कुरुक्षेत्र; प्र० सं० फरवरी 1968

10 निराला की साहित्य-साधना (प्रथम खंड) : रामविलास शर्मा; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1969

11 निराला की साहित्य-साधना (द्वितीय खंड) : रामविलास शर्मा; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1972

12 निराला की साहित्य-साधना (तृतीय खंड) : रामविलास शर्मा; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1976

13 निराला की आत्मकथा : सूर्यप्रसाद दीक्षित (प्रस्तोता); गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ; प्र० सं० 1970

14 निराला के पत्र : जानकी वल्लभ शास्त्री; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1971

15 निराला : रामविलास शर्मा; शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा

16 अलक्षित निराला : सूर्यप्रसाद दीक्षित; कलमघर प्रकाशन, त्रिपोलिया रोड, पोकरण हाउस, जोधपुर; 1973

17 निराला और मुक्त छन्द : शिवमंगल सिद्धान्तकर; मैकमिलन; प्र० सं० 1974

18 निराला—काव्य और व्यक्तित्व : धनंजय वर्मा; विद्या प्रकाशन मंदिर, दरियागंज, दिल्ली

19 साहित्य देवता निराला : ओंकार शरद (सम्पादक); भारती परिषद् प्रयाग; 1970

20 महाकवि निराला—व्यक्तित्व और कृतित्व : प्रेमनारायण टंडन (सम्पादक); हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ–3; प्र० सं० 1962

21 निराला और उनका तुलसीदास : रामकुमार सिंह; पुस्तक संस्थान, कानपुर; प्र० सं० 1976

22 छायावाद और निराला : हनुमानदास चकोर; नवयुग ग्रन्थागार, सी 747 महानगर, लखनऊ; प्र० सं० 1963

23 निराला का काव्य : जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव; पुस्तक संस्थान, कानपुर; प्र० सं० 1974

24 क्रांतिकारी कवि निराला : बच्चनसिंह; नन्दकिशोर एंड संस, चौक, वाराणसी

25 तीन महाकवि : गंगाप्रसाद पांडेय; साहित्य सहकार, ई 10/4 कृष्णनगर, दिल्ली, प्र० सं० अप्रैल 1976

26 निराला काव्य—पुनर्मूल्यांकन : धनंजय वर्मा; विद्या प्रकाशन मंदिर, दरियागंज, दिल्ली; प्र० सं० 1973

27 निराला—नवमूल्यांकन : रामरतन भटनागर, स्मृति प्रकाशन, 61 महाजनी टोला, प्रयाग; प्र० सं० 1973
28 निराला के काव्य-बिम्ब और प्रतीक : वेदव्रत शर्मा; आशा प्रकाशन गृह, करौलबाग, नई दिल्ली; 1973
29 निराला की कविताएं और काव्यभाषा : रेखा खरे; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1976
30 निराला का परवर्ती काव्य : रमेशचन्द्र मेहरा; अनुसन्धान प्रकाशन, आचार्य नगर, कानपुर; प्र० सं० 1963
31 टैगोर और निराला : अवधप्रसाद वाजपेयी; युगवाणी प्रकाशन, कानपुर; प्र० सं० 26 जनवरी 1965
32 निराला की काव्य-भाषा : शिवशंकर सिंह; अनुपम प्रकाशन, पटना-6; प्र० सं० 1978
33 निराला – व्यक्ति और कवि : राम अवध शास्त्री; साहित्य-निकुंज, वाराणसी; प्र० सं० 1975
34 निराला—एक व्यक्ति – एक युग : नागार्जुन; पराग प्रकाशन, 3/114 कर्ण गली, विश्वासनगर, शाहदरा, दिल्ली-32
35 काव्य-पुरुष निराला : जयनाथ नलिन; आलोक प्रकाशन, कुरुक्षेत्र; प्र० सं० जून 1970
36 निराला का अलक्षित अर्थगौरव : पांडेय शशिभूषण शीतांशु; सरस्वती प्रेस, 5 सरदार पटेल मार्ग, इलाहाबाद; प्र० सं० 1976
37 कला सृजन प्रक्रिया और निराला : शिवकरण सिंह; शोध प्रबन्ध (भागलपुर); संजय बुक सेन्टर, के० 38/9 गोलघर, वाराणसी; प्र० सं० 1978
38 निराला – जीवन और साहित्य : तेजनारायण प्रसाद सिंह, रामबुझावनसिंह, शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव (सम्पादक); राज प्रकाशन, पटना-6; प्र० सं० जून 1964

महादेवी वर्मा

1 महादेवी के काव्य में लालित्य विधान : मनोरमा शर्मा; शोध प्रबन्ध (मराठवाडा); साहित्य संस्थान, 106/154 गांधीनगर, कानपुर; प्र० सं० मई 1976
2 महादेवी साहित्य—एक नया दृष्टिकोण : पद्मसिंह चौधरी; अपोलो प्रकाशन, जयपुर-3; प्र० सं० 1974
3 महादेवी : इन्द्रनाथ मदान (सम्पादक); राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली
4 महादेवी की रचना-प्रक्रिया : कृष्णदत्त पालीवाल, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली-7; प्र० सं० फरवरी 1971

5 महादेवी की कविता—सशय और समाधान, भावना प्रकाशन, विवेकानद नगर, दिल्ली-7; प्र० स० 1971

6 महादेवी संस्मरण ग्रन्थ : सुमित्रानंदन पत एवं शांति जोशी (सम्पादक); लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० स० 1967

7 महादेवी—नया मूल्यांकन : गणपतिचन्द्र गुप्त; भारतेन्दु भवन, लोअर बाजार, शिमला; प्र० स० 1969

8 महादेवी और उनका काव्य : गगाप्रसाद पांडेय; लिपि प्रकाशन, ई 5/20 कृष्णनगर, दिल्ली-51; प्र० सं० 1971

9 महादेवी वर्मा : गगाप्रसाद पांडेय (सम्पादक); राजपाल एंड संस, दिल्ली, प्र० सं० 1968

10 महादेवी का काव्य-वैभव : रमेशचन्द्र गुप्त (सम्पादक), प्रेम प्रकाशन मंदिर, 3012 बल्लीमारान, दिल्ली-6, प्र० सं० 1968

11 महीयसी महादेवी : गंगा प्रसाद पांडेय; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1969

12 महादेवी की रहस्य-साधना : विश्वंभर मानव; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1944

सुमित्रानंदन पंत

1 सुमित्रा नंदन पंत - मूल्यांकन : इन्द्रनाथ मदान (सम्पादक); लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद; प्र० सं० 1975

2 सुमित्र नंदन पंत—काव्य कला और जीवन-दर्शन: शचीरानी गुर्टू (सम्पादक); आतमाराम एंड संस, दिल्ली; प्र० सं० 1951

3 सुमित्रा नंदन पंत—कला, काव्य और जीवन-दर्शन : गोपालदास नीरज एवं सुधा सक्सेना; आतमाराम एंड संस दिल्ली, प्र० सं० 1963

4 पंत के काव्य में कलपना का कर्त्तृत्व : ब्रजरानी भार्गव; शोध प्रबन्ध (राजस्थान); बाफना प्रकाशन, जयपुर; प्र० सं० 1972

5 युगकवि पंत की काव्य-साधना : विनयकुमार शर्मा; हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली-6; प्र० सं० 3 अक्तूबर 1962

6 पंत का काव्य और युग : यशदेव; किताब महल, इलाहाबाद; 19 6

7 सुमित्रानंदन पंत : नगेन्द्र; नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली

8 सुमित्रानंदन पंत : विश्वंभर मानव; किताब महल, इलाहाबाद; प्र० सं० 1951

9 सुमित्रानंदन पंत—स्मृति चित्र; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

10 पंत और पल्लव : निराला; गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ

11 पंत के सौ पत्र—बच्चन के नाम; प्र० सं० मई 1970

12 महाकवि पंत : सत्यकाम वर्मा; भारतीय प्रकाशन, 7/3 अशोक नगर, नई दिल्ली–18

13 सुमित्रानंदन पंत : बच्चन (सम्पादक); राजपाल एंड संस, दिल्ली

14 सुमित्रा नंदन पंत—जीवन और साहित्य (प्रथम खंड) : शांति जोशी; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं० 1970

15 पंत का काव्य : प्रेमलता बाफना; शोध प्रबन्ध (सागर); साहित्य सदन, देहरादून; प्र० सं० सितम्बर 1969

16 पंत का काव्य दर्शन : प्रतापसिंह चौहान ; प्रत्यूष प्रकाशन, कानपुर; 1963

17 सुमित्रानंदन पंत तथा आधुनिक हिन्दी कविता में परम्परा और नवीनता: ई० चेलिशेव; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली-6; प्र० सं० 1970

18 सुमित्रानंदन पंत – जीवन और साहित्य (द्वितीय खंड) : शांतिजोशी; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्र० सं 1977

19 कवियों में सौम्य संत : बच्चन; राजपाल एंड संस, दिल्ली; प्र० सं० मई 1960

20 कवि सुमित्रानंदन पंत : नंददुलारे वाजपेयी; दि मैकमिलन कम्पनी आफ इन्डिया लिमिटेड; प्र० सं० 1976

21 पंत काव्य में सौन्दर्य भावना : अन्नपुरेड्डी श्री रामरेड्डी; हिन्दी साहित्य संसार, 55 चौरटिया रोड, लखनऊ; प्र० सं० 1976

22 पंत साहित्य आत्मकथात्मक परिदृश्य : निर्मल बख्शी; सन्मार्ग प्रकाशन, 16 यू० बी०, बैंग्लो रोड, दिल्ली; प्र० सं० 1977

23 पंत के दो सौ पत्र (बच्चन के नाम); सन्मार्ग प्रकाशन, बैंग्लो रोड, दिल्लीं-7; प्र० सं० मार्च 1971
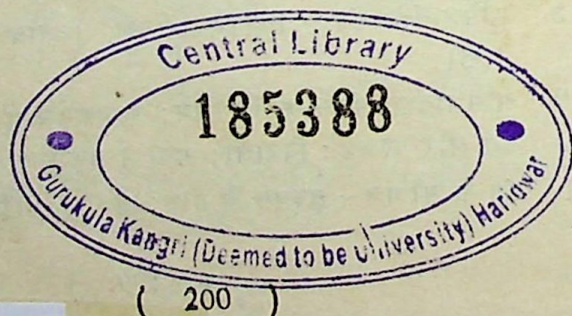
शोध पत्रिका
सौन्दर्य शास्त्र विशेषांक

मेरठ विश्वविद्यालय हिन्दी परिषद